----- ॐ। तुरीय। ॐ-----

(माण्डूक्य उपनिषद का रहस्य)

"दो शब्द"

मुक्तिक उपनिषद में भगवान श्री रामचन्द्रजी हनुमानजी से कहते हैं कि "सिर्फ माण्डूक्य उपनिषद ही मुमुक्षुओं को मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है।" ऐसे माण्डूक्य उपनिषद पर श्री गौड़पादाचार्य की कारिकाये हैं।उसपर भगवान श्री शंकराचार्य का भाष्य है।ऐसे उच्चतम* उपनिषद का रहस्य खोजकर बड़े बापूजी स्वामी श्री माधवतीर्थ महाराज ने १९५६ के वर्ष में "तुरीय" अथवा "माण्डूक्य उपनिषद का रहस्य" नामक पुस्तक वेदांत आश्रम,वलाद से प्रकाशित किया है।यह पुस्तक उत्तम जिज्ञासुओं और वेदांत में आगे बढे हुए मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी होने से परम पूज्य श्री विनुभाई भक्त ने यह पुस्तक छपवाने के लिए स्वामी श्री शिवानंदतीर्थजी ने उनसे विराणी गांव में हुई अंतिम मुलाकात में कहा था। इस पुस्तक पर सत्संग भी उत्तम जिज्ञासुओं की उपस्थिति में अपना स्वास्थ्य ठीक नहीं होने पर भी कुछ दिन देकर जिज्ञासुओं को सच्ची समझ देने का प्रयास किया था। तदुपरांत भाईश्री की अंतिम पुस्तक "भक्तिप्रभा" की छपाई का कार्य चल रहा था। इस अंतिम पुस्तक में भाई श्री ने इस पुस्तक के माध्यम से पांच प्रश्न और उत्तर बनाकर पांच पत्रों के रूपमें किरण ७६ से ८० तक में समावेश भी किया हुआ है।सत्संग प्रेमी भाईश्री को यह पुस्तक बहुत ही पसंद आ गयी थी।इसलिए ही सत्संग करवाया था और छपवाने के लिए जरुरी सूचन भी दिए थे।

दिनांक : ५-११-२००३ के बुधवार को रात्रि में भाईश्री स्थूल देह से हमारे बीच में से चिर विदाय लेकरब्रह्मलीन हुए हैं।अतः उनके अंतिम सूचन के अनुसार इस पुस्तक की दूसरी आवृति छपवाई गई है,लेकिन यह दूसरी आवृत्ति देखने के लिए भाईश्री स्थूल देह से अभी हमारे बीचमें नहीं रहे है।हालाँकि वे ज्ञान स्वरुप से तो सर्वत्र और सदा सर्व अर्थ में उपस्थित ही है।इस पुस्तक का खूब गहराई से अभ्यास हो वैसा सूचन जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के प्रति भाईश्री का था। इस सूचन को आज्ञा समझकर सर्व मुमुक्षु और जिज्ञासु इस पुस्तक का गहराई से तलस्पर्शी अध्ययन करेंगे,जिससे वे अपने निज स्वरुप कि जो नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति करेंगे-जानेंगे।ऐसी सद्गुरु स्वरुप भाईश्री को नम्र प्रार्थना।

आपका कृपाकांक्षी

(गंगादासभाई एन.सोमजीयाणी)

आद्यात्म सत्संग मंडल,

मोटी-विराणी(कच्छ)

निवेदन

वेदांत की प्रक्रिया के सूक्ष्मतम पासों के यथार्थ को प्राप्त करने के बाद, एक क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा अपने स्वयं के अनुभवजन्य दर्शन को,अपने मुमुक्षु शिष्यों को अपनी ही प्रसादी के स्वरुप में शिष्यों को पुस्तक के रूपमें पहुंचाना चाहते हो तो उसके लिए तैयार की हुई पुस्तक कैसी होगी ? एक क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा दूसरे क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के साथ सत्संग करतें हो तो उसका स्वरूप कैसा होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए ब्रह्मलीन परम पूज्य स्वामी माधवतीर्थजी की निम्नलिखित दो पुस्तकों का अध्ययन करना अनिवार्य बनता है। यह दो पुस्तक हैं : १. "एक सत्ता एक वस्तु" और (२) "तुरीय -माण्डूक्य उपनिषद का रहस्य"

निश्चित ही ये दोनों पुस्तकें सहजता से और सरलता से समझमें आये वैसी नहीं है।उपनिषदों की नाई इन पुस्तकों में उपदिष्ट गहन ज्ञान भी गुरु गम्य ज्ञान है।

कर्णाटक के एक समय के सुप्रसिद्ध और क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा प.पू.स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती एवं प.पू. स्वामी माधवतीर्थजी के परम संबंध और उनके बीच हुए सत्संग के परिपाक रूप में ये दोनों पुस्तकें हमे उनके प्रसाद के रूप में प्राप्त हुई है।प.पू. स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती की संस्कृत पुस्तक "मूलाविद्या निरास" के आधार पर प.पू. माधवतीर्थ बापजी ने "एक ज सत्ता एक ज वस्तु" गुजराती पुस्तक प्रकाशित किया है। जब प.पू. स्वामी सच्चिदानंदजी के अप्रैल १९५६ में वलाद वेदांत आश्रम में आठ दिन के निवास के दौरान उनके बीच हुए सत्संग की उपज है "तुरीय-माण्डूक्य उपनिषद का रहस्य" की यह पुस्तक ।परम तत्व का अनुसंधान करानेवाली माँ भगवती गीता के अभ्यासी ,स्थितप्रज्ञ,गुणातीत और ब्राह्मी स्थिति जैसे वेदांत के पारिभासिक शब्दों से सहज परिचित हो यह स्वाभाविक है।लेकिन ब्रह्मवाद,ब्रह्मदशा,तुरीय प्रज्ञा पारमिता और अस्पर्शयोग जैसे पारिभासिक शब्दों से हम अधिक परिचित नहीं है,वास्तवमें सभी शब्द एक ही "परम वस्तु" को लक्षित करते हैं।प.पू.माधवतीर्थ बापजी ने प्रकरण :१ एवं ५ में इन पारिभाषिक शब्दों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।माण्डुक्य उपनिषद में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से पर "तुरीय"(कभी तुरीयातीत शब्द से भी परब्रह्म तत्व लक्षित होता है।) यही जीव का वास्तविक स्वरुप है।ऐसा दर्शाया है।लेकिन जीव इस अवस्थात्रयी से परे तुरीय तक की "कथित साधना" यात्रा में कहाँ अटक जाता है ? कहाँ और कैसी गलतियां करता है ? और ऐसी गलतियां कैसे सुधर सकती हैं ? प.पू. माधवतीर्थ बापजी ऐसे प्रश्नों के उत्तर प्रकरण २,३ एवम् ४ में विशेष सावधानी से प्रस्तुत करते हैं।जहाँ संभव है वहां पूज्य स्वामीजी आधुनिक विज्ञान शास्त्र के (Modern Science के) दृष्टान्तों की मदद से इस बाबत की समझ भी देते हैं।जब ये बातें समझमें आ जाय तभी मुमुक्षुओं के प्रति पू.स्वामीजी की कृपा और करुणा का अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

श्री गौड़पादाचार्य एवम् श्री शंकराचार्य,सभी अद्वैतमतों में "अजातवाद" को परम श्रेष्ठ और परम सत्य मत के रूप में स्वीकारते हैं।प.पू.माधवतीर्थ बापजी को भी इसी मत के लिए आदर है,क्योंकि यह मत ही सार्वत्रिक है और सभी के अनुभव में आनेवाली रामबाण "युक्ति" है। इसीलिए पू.माधवतीर्थ बापजी मुमुक्षुओं को अंदर और बाहर एवम् अंदर-बाहर उभय से अतीत जो तुरीय तत्व है वही सच्चा है वैसा तात्पर्य निर्णय करके आत्मा से अतिरिक्त कोई जीव है नहीं।वैसी अपरोक्षानुभूति का दिशा निर्देश करते हैं। परिशिष्ट में विवर्तवाद के द्वारा निष्प्रपंच दशा ही वास्तवमें आत्मा का स्वभाव है,वही सच्चा ज्ञान है यह दर्शाया है।यह पुस्तक बहुत समय से अप्राप्य थी। क्षोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मलीन प.पू. विनुभाई भगत की इच्छा भी इस पुस्तक की नई आवृत्ति प्रकाशित करने की थी। इस सन्दर्भ में आध्यात्म सत्संग मंडल, विराणी की ओर से आर्थिक सहयोग मिलनेपर इस पुस्तक को प्रकाशित करने का कार्य सरल हुआ था। वेदांत आश्रम,वलाद का ट्रस्टि मंडल सादर और साभार इस सहयोग को स्वीकार कर इस पुस्तक को प्रकाशित कर आनंद का अनुभव कर रहा है।

आशा है कि यह पुस्तक प्रसाद से प.पू. माधवतीर्थ बापजी के आशीर्वाद आपको अपरोक्षानुभूति "स्व" के दर्शन करने में उपकारक बनेंगे।

वलाद ट्रस्टिमंडल

दि.१४-१-०४ वेदांत आश्रम

प्रस्तावना

मैसोर स्टेट के हसन जिले में होले नरसीपुर गाँव है।वहां एक वृद्ध स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती रहते हैं।वे ज्ञानी महापुरुष हैं।उन्होंने कुछ पुस्तकें संस्कृत और कन्नड़ में लिखी हैं और वे विद्वानों में मान्य हुई हैं।उनके मार्गदर्शन एवम् प्रेरणा से उस प्रान्त में "आध्यात्म प्रकाश" नामक मासिक पत्रिका भी निकलती है और उस देश में उसका अच्छा प्रचार भी है।ये स्वामी ईसवी सन् १९५६ में द्वारिका और सोमनाथ की यात्रा करते समय मार्गमें यहां के वेदांत आश्रम में दिनांक २२-४-१९५६ से २९-४-५६ तक ठहरे थे।उनके सत्संग का लाभ लेने के लिये गुजरात के भी कुछ संन्यासी और जिज्ञासु यहां आश्रम में आये थे।उन आठ दिन के सत्संग में सुबह एक घण्टा प्रश्नोत्तरी के लिये निर्धारित किया गया था।उन्होंने संस्कृत में माण्डूक्य रहस्य विवृति नामक पुस्तक लिखा है और अभी वह छप रहा है।उसपर वे विवेचन करते थे और उसको कुछ संन्यासी और स्वामी लिख लेते थे।उस विवेचन में से वेदांत की प्रक्रिया के लिये कुछ सूक्ष्म और नई प्रक्रिया जिज्ञासुओं को मिलने के कारण इस पुस्तक में उसका सार दिया गया है।गुजरात में वेदांत का अभ्यास करनेवाले कम हैं।उसमें भी सूक्ष्म गहराई में जाकर उसका रहस्य समझानेवाले बहुत कम हैं इसलिए यह पुस्तक साधारण जनता को उपयोगी नहीं हो सकता,अपितु जिन्होंने वेदांत का कुछ अध्ययन किया हो उनको आगे बढ़ाने के लिये उपयोगी हो सकता है।

उपरोक्त स्वामी का एक संस्कृत पुस्तक मूलाविद्या निरास कुछ साल पहले प्रसिद्ध हुआ था। उसका गुजराती अनुवाद यहाँ के आश्रम की ओर से प्रसिद्ध हुआ है और उसका नाम 'एक ज सत्ता एकज वस्तु' रखा गया है।उसमें जो शुक्ष्म प्रक्रिया समझायी हुई है वह उस पुस्तक की प्रस्तावना में दी हुई है।यह पुस्तक माण्डूक्य उपनिषद का संक्षेप सारभूत है,इसलिए जिन्होंने माण्डूक्य उपनिषद का कुछ अभ्यास किया होगा उनको यह पुस्तक समझने में कठिन नहीं होगा। बौद्धधर्म में बुद्ध के बाद नागार्जुन नामक एक विद्वान पुरुष हो गए हैं।उनके द्वारा लिखी हुई कारिका के अधिकांश श्लोक श्री गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद पर आधारित उनकी कारिका में लिये हैं,इसलिये कुछ लोग मानते हैं, कि वेदांत बौद्ध की ही शाखा है,लेकिन वास्तवमें देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि वेदांत में ब्रह्म तत्व का स्पष्टीकरण निम्नलिखित दो प्रकार से मिलता है :

१. विधिमुख से २. निषेधमुख से

विधिमुख से गौड़पादाचार्य ने जो स्पष्टिकरण किया है वह माण्डूक्य के तीन प्रकरण में आ जाता है। निषेधमुख की प्रक्रिया में उनहोंने बताया है,कि नागार्जुन की रीत से भी वेदांत के तत्व को समझाया जा सकता है।नागार्जुन की रीत निम्नलिखित है :- कुछ है ऐसा कहते हैं तो शंका होती है और कुछ नहीं है ऐसा कहते हैं तो भी शंका होती है,अतः परमतत्व है और नहीं है के मध्य में होने से,उस प्रक्रिया को माध्यमिक -बुद्ध कहते हैं,और बीच के तत्व को बौद्धधर्म में 'प्रज्ञा पारमिता' कहते हैं।

इस पुस्तकमें थोडा सायन्स का भाग मिलाकर लेखक ने कुछ बातों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

श्री शकराचार्य के पहले भी अनेक प्रकार के अद्वैतमत थे।उन सभी मतों को तोड़कर गौड़पदाचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त प्रचलित किया है।गौड़पादाचार्य का विशेष सिद्धांत है कि उपनिषद का तत्व आँख से देखने की वस्तु नहीं है और मन से कल्पना करने की वस्तु नहीं है,लेकिन अनुभव करने की वस्तु है।श्री गौड़पदाचार्य और श्री शंकराचार्य जो अनुभव देते हैं वह सार्वत्रिक सर्व के अनुभव में आ सकता है।अन्य कुछ लोगों को समाधी में विशेष अनुभव होता है,वह उनके लिए रहता है,सार्वत्रिक नहीं होता,वह समाधी के समय ही रहता है।श्री शंकराचार्य विशेष रूप से कहते हैं, कि शब्द पर ध्यान नहीं देकर अंदर और बाहर से अतीत जो तुरीय तत्व है वही सच्चा है और उसका अनुभव लेने का प्रयास करना चाहिए। ऐसी प्रक्रिया में यह पुस्तक उपयोगी हो सकती है।इसलिए इस पुस्तक का नाम तुरीय रखा गया है।

हररोज सुबह भूतकाल का जगत नहीं है,अपितु नई अवस्था की शुरुआत है।जैसे हरेक स्वप्न में नई शुरआत होती है वैसे हरेक जाग्रत में नई शुरुआत होती है।जैसे एक स्वप्न के देश-काल दूसरे स्वप्न में नहीं आते वैसे एक जाग्रत के देश-काल दूसरे जाग्रत में नहीं आते। दृष्टांत के तौर पर हिन्द के प्रांत का नकशा बदल गया है,यह सभी जानते हैं और सौराष्ट्र का मुंबई में समावेश हुआ है,फिर भी आजकल विद्यार्थियों को पाठशालाओं में सिखाया जाता है कि सौराष्ट्र स्वतंत्र प्रांत है क्योंकि नए नकशे और नई पुस्तकें तैयार नहीं हुई है।सौराष्ट्र का अलग अस्तित्व मिथ्या है,शून्य है,फिर भी विद्यार्थियों के जगत में वह चालू है।वह विद्यार्थियों का स्वप्ना है।जिन परिस्थितियों से जो संस्कार होते हैं वैसी परिस्थितियां सभी के लिए दूसरे दिन नहीं आती।जब नये नक़्शे और नई पुस्तकें शुरू होगी तभी प्रधान और विद्यार्थी समसत्ता में आयेंगे।नये ज्ञान से नयी अवस्था बनती है,उसको भूतकाल से नहीं माप सकते।जाग्रत स्वप्न का बाध करता है वैसे ही जाग्रत भी स्वतंत्र नहीं है।सगुण में विधि वाक्य का उपयोग हो सकता है,किन्तु निर्गुण के लिए निषेधवाक्यों की जरुरत है।जिसका निषेध होता है वह कोई वस्तु नहीं है।ब्रह्म और जगत सम-सत्ता में नहीं है।ऐसा हो तो परिणामवाद आ जायेगा। ब्रह्म आये तो जगत रहेगा नहीं,क्योंकि जगत की विषम सत्ता है,फिर भी वस्तु एक है।वस्तु यथावत् रहती है,सिर्फ दर्शन बदल जाता है।ब्रह्म दृष्टि से जगत ब्रह्म है,जगत दृष्टि से ब्रह्म जगत है।

जैसे स्वप्न भीतर से देख सकते हैं वैसे जाग्रत को भी अंदर से देखा जा सकता है।यह बात वर्तमान में सापेक्षवाद के सायन्स से भी सिद्ध हुई है।सृष्टि-दृष्टिवाद का जगत बाहर से देखा जा सकता है किन्तु दृष्टि-सृष्टिवाद का जगत बाहर से नहीं देखा जा सकता,अतः दोनों की रीत और दोनों की प्रक्रिया में बहुत अंतर है।प्रथम रीत में परिस्थितियां बदलनी पड़ती है।दूसरी रीत में दर्शन को बदलना है।अधिष्ठान के ज्ञान के समय अहं और इदं दोनों चले जाते हैं और तुरीय रहता है।

-स्वामी माधवतीर्थ

वेदांत आश्रम

पोस्ट - वलाद

स्टेशन मेदरा

(अहमदाबाद प्रांतिज रेलवे)

१-१२-१९५६

॥ ॐ॥

प्रकरण -१

(ब्रह्मवाद)

ब्रह्मवाद शब्द श्रीमद्भागवत में श्लोक ११-२९-२३ में देखने में आता है।श्री कृष्ण ने आखरी बार उद्धवजी को जो उपदेश दिया है उसे ब्रह्मवाद कहते हैं।तुरीय दशा का स्वरुप समझने के लिए वह बहुत उपयोगी होता है।संक्षेप में, जब ब्रह्मविद्या से और ब्रह्म दृष्टि से सब ब्रह्ममय प्रतीत होता है उसे ब्रह्मवाद अथवा तुरीय कहते हैं।

जगत के प्रपंच ज्ञानी मनुष्य को कैसे लगते हैं ? किसी हाथी के शरीर पर मक्खि बैठी हो और उसके पुरे शरीर पर घूमकर उसको परेशान करे और बादमें मक्खी अपनी गलती के लिए उस हाथी से प्रार्थना करे,कि मैंने तुम्हे बहुत दुःख दिया,तभी हाथी कहता है,कि तू मेरे शरीर पर बैठी थी उसका मुझे पता ही नहीं है,ऐसे ही ज्ञानी पुरुषों को प्रपंच असर नहीं करता किन्तु कुछ लोग थोड़ी सी माया से डर जाते हैं और हाथी की दृष्टि नहीं रख सकते उन्हें विचारशक्ति बढ़ानी चाहिए।उन्हें स्वप्न का दृष्टांत लेकर मिथ्यादृष्टि बढ़ानी चाहिए।** अथवा जाग्रत में जो कुछ दिखता है उसे ठीक से देखने को सिखना चाहिए।मन के अंदर के पदार्थ मन की कल्पना तक रहते हैं और मन के बाहर के पदार्थ मन की कल्पना तक रहते हैं और कल्पना के काल के बाहर भी रहते हो ऐसा प्रतीत होता है;किन्तु वास्तवमें सभी पदार्थ(अंदर के और बाहर के) कल्पित हैं।जैसे स्वप्न के पदार्थ(चित्त काल वाले और चित्त काल बिना के) कल्पित हैं वैसे जाग्रत के भी कल्पित है।इस बात का स्पष्टीकरण माण्डूक्य उपनिषद की कारिका के वैतथ्य प्रकरण में १४ वें श्लोक में दिया हुआ है।वहां ऐसा दृष्टांत दिया हुआ है कि एक मनुष्य किसी चरवाहे के घर दूध लेने गया। उस समय चरवाहे ने गाय का दूध निकाला नहीं था इसलिए उसनें उस व्यक्ति से कहा कि "तू बैठ तभीतक मैं गाय का दूध निकाल लेता हूँ।"उसने उत्तर दिया कि "तू गाय का दूध निकाल ले तभीतक मैं यहां बैठता हूँ।" इन दोनों घटनाओं में अन्योन्य परिच्छेदक काल है।वह कार्य जल्दी हो अथवा देरी से हो,उस दिन गाय के स्तन में दूध अधिक हो अथवा कम हो। अतएव बाहर का काल भी सच्चा नहीं है।मन की कल्पना के अंदर का काल सच्चा नहीं है ऐसा तो सभी का अनुभव है।

बाहर के पदार्थ एवम् बाहर का काल सच्चा नहीं है यह बात वर्तमान के सापेक्षवाद के सायन्स से और जेस्टाल्ट के मानसशास्त्र से भी सिद्ध होती है।कोई भी रेखा खींचनी हो तभी उसमें साधारण दृष्टि से सिर्फ पॉइन्टका अथवा बिंदुओं का समूह होता है,लेकिन मूल छोटे से छोटे बिंदु का कद नहीं होता A point has a position but no dimension,अतएव रेखा को भी कद अथवा आकार नहीं होता,इसलिए मनुष्य जो कुछ भी देखता है उसे एक समूह अथवा point-set कहते हैं।उसमें से उसकी जाग्रत अवस्था बनती है।उस समय आत्मा ही वैश्वानर जैसा लगता है।जैसे स्वप्न का आत्मा तेजस बनकर स्वयं ही अपने आप को देखता है वैसे जाग्रत का आत्मा वैश्वानर बनकर स्वयं अनुभव लेता है।स्वप्न का तेजस किसी सच्ची वस्तु को देखता नहीं है वैसे ही जाग्रत का वैश्वानर भी किसी सच्ची वस्तु को नहीं देखता।

कोई मोटरकार हमारे सामने से पसार होती है तभी क्या दिखता है?

एक ही वस्तु को दूसरे स्थानपर जाते देखना हो तो एक समय का उसका जो फोटो देखने वाले की आँख में आये उसके बाद दूसरा फोटो पड़े उसके बीच काल का अंतर बहुत कम हो तो ही गति देखने में आ सकती है।जैसे कि,मनुष्य की आँख ऐसी है कि वह एक सेकंड में १६ फोटो देख सकती है यानी एक फोटो के स्मरण के लिए १/१६ के बराबर समय लगता है।उसका स्मरण मन में से निकल जाय उससे पहले उस वस्तु का दूसरा फोटो आँख के पास आये तो प्रथम वस्तु चलती हुई प्रतीत होती है।अतएव सिनेमावाले एक सेकंड में २४ फोटो लेते हैं।इससे जहाँ गति नहीं हो वहां (सिनेमा के चित्र में) गति मालूम पड़ती है।अतः मनुष्य जो देखता है वह अपनी अवस्था ही देखता है।उस अवस्था में एक ही चेतन स्वतंत्र तत्व होने से आत्मा को ही अथवा ब्रह्म को देखता

है।स्वप्न में अनेक घटनायें बदलती जाती हैं परंतु प्रमाण का काल समान लगता है इसलिए चालू अवस्था का अनुभव होता है,किन्तु वस्तु दूसरी नहीं बन जाती।दो घटनाओं के बीच का अंतर भी दर्शन की रीत में से निकलता है।जैसा स्वप्न में बनता है वैसा जाग्रत में बनता है।वर्तमान समय में दर्शन-शास्त्र का अभ्यास अत्यंत अल्प हो गया है और खाने पीने की चिंता को लेकर दृश्य का अभ्यास अधिक होता है इसलिए मनुष्य अपने आपको पहचानने का प्रयास नहीं करता।

जैसे दर्शन की रेखा में पोइंट-सेट(बिंदु का समूह) होता है,वैसे दर्शन के काल का अंतर दृश्य के समूह के वजन पर आधार रखता है।*(* The line interval is union of unextendend poin-set which contains an infiniy of degenerate subintervals.) उसमें किसी घटना की सच्ची उत्पत्ति,सच्ची स्थिति या सच्चा लय नहीं होता।स्वप्न की संपूर्ण अवस्था जैसे मिथ्या है वैसे जाग्रत(संपूर्ण अवस्था) मिथ्या है।ट्रेन में बैठा हुआ मनुष्य दूसरे विचारों में खो जाय तो अपने स्टेशन पर उतर नहीं सकता,और फिर भी वह दूसरा मनुष्य नहीं बन जाता।उस समय कैसे भी विचार आये तो भी सभी का आधार स्वयं है।रेलवे-ट्रेन से अहमदाबाद से मुंबई जाना हो तो १० घण्टे का अंतर रहता है।बीच में बड़ौदा,भरुच,सूरत आदि के घण्टों का अंतर अलग रहता है अतः जो जानना हो उसमें कौनसी घटना का अंतर चाहिए उसको प्रथम निश्चित करना चाहिए।

cardinality of an interval is not a function of the length of that interval. It dose not mean that the longer interval has more points in it.The interval cannot be divided.

स्वप्न का अथवा कल्पना का आश्रय घटना के अनुसार नहीं रहता किन्तु घटना उसके आधारपर रहती है।स्वप्न में और मनोरथ में कोई घटना अथवा कर्म पूर्ण नहीं होता और आखरी का नहीं है The cardinality of the state remains unaffected यानी जब कर्म चालू हो तभी जिस प्रकार का उसको आश्रय देनेवाला मिथ्या ज्ञान हो वैसा चालू रहता है।लेकिन ज्ञान के भाग नही पड़ते,इससे कर्म के भाग नहीं पड़ते।अतः हरेक समय नए नए कर्म मालूम पड़ते हैं और वे दृष्टा से भिन्न नहीं है,अतएव सिर्फ एक चेतन की ही सत्ता रहती है।उसमें मिथ्या दर्शन से तमोगुण आता है और सत्य दर्शन से सत्वगुण आता है।अतएव विचार में खोया हुआ मनुष्य अपने स्टेशनपर उतर नहीं सकता,परंतु जब गलती का पता चलता है तभी दूसरी दशा आ जाती है।सर्प को भय लगता है तभी वह छोटा होकर छोटे बिल में समा जाता है और जब वह किसी के सामने होता है तभी अपने में वायु भरकर मोटा हो जाता है,फिर भी सर्प वही सर्प रहता है।

कल का जगत आज याद आता है तभी मनुष्य को अलग नहीं दिखता परंतु कल की अपनी दशा याद आती है,और उस दशा का कोई रूप नहीं होता अतएव बिना रूप की घटना में अध्यास होता है और उस अध्यास के समय कुछ दृश्य जैसा दिखता है,लेकिन वह सच्चा दृश्य नहीं है।प्रातिभासिक वस्तु में जिस समय हम जो देखते हैं उस समय वह सच्चा ही दिखता है।सीपी में रूपा,रज्जु में सर्प स्वप्न और जाग्रत सभी उस समय सच्चे दिखते हैं।स्वप्न में मन के अंदर का जगत असत और बाहर का जगत सत मालूम पड़ता है।मिथ्या कल्पित वस्तु में भी सत-असत का विभाग बनता है।जाग्रत में भी ऐसा बनता है।हमको सच्ची वस्तु दिखे और वह मन में सच्ची प्रतीत हो तो उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह वस्तु तत्वदृष्टि से सच्ची है।नाटक में कोई व्यक्ति सम्राट बने और ठीक वैसा ही खेल दिखाए फिरभी वह वास्तवमें सम्राट नहीं बनता।अध्यास दिखनेवाली सच्ची वस्तु में भी होता है और दिखनेवाली झूठी वस्तु में भी होता है,परंतु सभी घटनाओं में सिर्फ एक ब्रह्म-सत्ता रहती है।इसलिये ही उपनिषदमें कहा है, कि 'सत्यं च अनृतंच सत्यम् भवत्' अच्छा बुरा सभी एक ही सत्तावाला है।स्वप्न में कुछ सच्चा दिखे और कुछ झूठा दिखे वह सब एक ही आश्रय से रहा हुआ है।वैसे ही जाग्रत में भी एक आश्रय से रहा हुआ है। भगवान ने जगत बनाते समय ऐसा ध्यान रखा है कि जगत में कुछ अच्छा हो या बुरा हो तो भी उसका मूल और उसका संबंध ब्रह्म के साथ ही रहता है इसलिए असत्य भी सत्य प्रतीत होता है।

दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में भी कहा है,कि :-

'यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत् कल्पार्थकं भासते'

ब्रह्म का स्फुरण सदा आत्मरूप है,जगत असत है,कल्पित है,किन्तु ब्रह्म के स्फुरण से सत जैसा लगता है।जहां झूठी वस्तु भी सच्ची हो जाती है वहां सबकुछ ब्रह्मरूप है ऐसा मानने में क्या घाटा है ?

फिर भी लोग गलती करते हैं उसे अध्यास कहते हैं।वह वितथा है यानी तथा नहीं है,अर्थात् सत्य नहीं है अर्थात् जैसा दिखता है वैसा नहीं है।जगत का मिथ्यात्व यानी ब्रह्म का सत्यत्व-सर्प का मिथ्यात्व ही रज्जु का सत्यत्व,जहां अध्यास के द्वारा सत्य और मिथ्या वस्तु का मिथुनिकरण प्रतीत होता है वहां दो अलग वस्तु नहीं है और उसका संबंध नहीं है।ऐसा हो तो वह सांख्य का मत हो जाय,वेदांत का अद्वैतमत नहीं रहेगा।अतएव ब्रह्म ही गलती से 'युष्मत-अस्मत्' प्रत्ययरूप मालूम पड़ता है।अतः सत् असत् जो कुछ भी हमारे ज्ञान में आये वह ब्रह्मरूप है।निर्विभाग ब्रह्म में विभाग कल्पित है।अध्यास के समय द्वैत का दिखावा होता है,द्वैत नहीं होता।

आत्मा का वास्तवमें रूप नहीं है,अतः उपनिषद में उसको अरूप कहा है।बुद्धि के आभासवाला मन होता है,मन के आभसवाली इन्द्रियां होती हैं और इन्द्रियों के आभासवाला देह प्रतीत होता है।इसलिए लोग देह को आत्मा मानते हैं।आत्मा के लिए ज्ञान की जरूरत नहीं है किन्तु नामरूप के द्वारा जो आरोप होता है उसकी निवृत्ति करनी है।आत्मा सुप्रसिद्ध है फिर भी अप्रसिद्ध लगता है,सुज्ञेय होने पर भी अविवेकी को दुर्विज्ञेय लगता है,नजदीक होनेपर भी दूर जैसा लगता है।जिनको आत्मा का निराकारपना नहीं समझमें आता उनको ज्ञाननिष्ठा नहीं होती,ज्ञानी पुरुष तो 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:' ऐसा मानते हैं,यानी जिस दशा में साधारण मनुष्य जगते हैं उसको मुनिजन रात्रि समझते हैं।

आत्मा कोई हेय या उपादेय पदार्थ नहीं है।आत्मा अप्रसिद्ध पदार्थ हो तो सभी परमार्थ प्रवृत्ती व्यर्थ हो जाय।जैसे अपने देह प्रसिद्ध होने से उसमें किसी प्रमाण की जरूरत नहीं पड़ती वैसे ही आत्मा भी प्रसिद्ध होने से उसके ज्ञान के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है।जिनको निराकार का ज्ञान नहीं होता उनको भी ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय मालूम पड़ता है।जैसे घट के ज्ञान में ज्ञाता व्याप जाता है,वैसे ही अन्य सभी ज्ञान में भी ज्ञाता की व्याप्ति है।

वेदांत में कार्य-कारण भाव का स्वीकार नहीं किया गया।कार्य-कारण भाव अध्यास के बाद उत्पन्न होते हैं।सूर्य में शीतलता आ जाय और पानी में उष्णता आ जाय तो भी ज्ञानी को उसमें कुछ आश्चर्य नहीं होता।यह सब माया का खेल है,इसलिए ज्ञानी में गुण दोष की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। परंतु झूठे व्यवहार से झूठी बुद्धि उत्पन्न होती है।एक घर में पति-पत्नी रहते थे।एकबार पति ने पत्नी से कहा,कि मुझे चाय पीलायेगी तो मैं तुझे एक आना दूंगा।पत्नी ने चाय पिलाई और पतिने एक आना दिया।दूसरे दिन पति ने पत्नी से कहा कि खाट बिछाकर आ । पत्नी ने कहा,कि "उस कार्य के लिए कितने पैसे दोगे !" इसप्रकार माया की आवृत्ति से माया की आदत बनती है।कुछ भक्त भगवान को कहते हैं ,कि "आपका भजन करूँ तो क्या दोगे !" भगवान के पास ऐसे व्यापारी मांग नहीं करनी चाहिए। भगवान दुकान खोलकर नहीं बैठे हैं। अपने कर्म भगवान को अर्पण करके उनकी सेवा करनी है।पत्नी ने पति के दिए हुए सामान से पति की सेवा करनी है।क्रियावाली भक्ति ऊपर उठाने के लिए है,अतः सेवा में ऊँचा भाव रखना चाहिए।ईश्वर की सेवा में उसका सबंध होगा और शुभ और अशुभ दोनों भाव छूट जायेंगे।भक्त शुभ और अशुभ को ब्रह्मरूप में लेता है।जो दिखावा है उसे दूर करना है और जो ग्रहण करना है वह तो अपना स्वभाव है।दृश्य की प्रतीति में मन को जाने नहीं देना चाहिए किन्तु सत्य की खोज करनी चाहिए।

जीव का जीवत्व सच्चा नहीं है।प्रमाता का प्रमातृत्व सच्चा नहीं है,परंतु उपासना के लिए जीव को सच्चा जैसा माना हुआ है।शुरुआत में उपासक उपास्य से भिन्न रह सकता है।अज्ञानी की दृष्टि से उपाधि निवृत्त नहीं होती।ज्ञानीपुरुष समझता है, कि ब्रह्म में

जीवत्व कल्पित है।महाकाश से जैसे घटाकाश होता है वैसे ब्रह्म में से जीव होता है।सभी संघात आत्मा की माया से प्रतीत होते हैं।जैसे स्वप्न में शरीर स्वप्न की माया से होते हैं वैसे जाग्रत के शरीर भी जाग्रत की माया से होते हैं।

एक जीववाद वाले कहते हैं, कि मैं एक जन्मा हुआ सच्चा हूँ,और दूसरे मेरी कल्पना में हैं किन्तु यह बात सच्ची नहीं है,क्योंकि ब्रह्म में जीवत्व ही कल्पित है।एक आत्मा ही अनेक जीव के रूप में दिखाव देता है।किसी कमरे में एक मनुष्य सो गया,उससमय किसीने उसके कमरे में चारों तरफ अनेक आईने लगा दिए और वह जगा तभी अपने अनेक रूप देखे परंतु वास्तवमें वहां एक ही मनुष्य था।

फिर भी व्यवहार के लिए अनेक जीव स्वीकार करने पड़ते हैं।यदि मैं ऐसा मानुं कि मैं एक ही सच्चा हूँ और दूसरे सभी सिर्फ आभासरूप हैं तो मैं कथा ही नहीं कर सकूँगा और मुझे मुसीबत आये तो दूसरे की मदद नहीं ले सकूँगा।स्वप्नमें और जाग्रत में मुझे किसीकी मदद की जरूरत पड़ती है,इसलिए व्यवहार दृष्टि से अनेक जीव हैं और उस दृष्टि से व्यवहार चलता है।ऐसा व्यवहार सच्चा है कि नहीं उसका विचार ज्ञानीपुरुष करते हैं।इस विचार में जीवत्व सच्चा है कि नहीं यह निश्चित करना है।माण्डूक्य उपनिषद में कहा है,कि 'न कश्चित्,जायते जीव:' अर्थात् किसी जीव का जन्म नहीं होता।वहां एक जीव अथवा अनेक जीव का प्रश्न नहीं रहता।जीव भगवान का अंश है कि आभास है,प्रतिबिंब है कि अवच्छेदक है,ऐसे प्रश्न झूठे हैं,क्योंकि जीवत्व अथवा प्रमातृत्व अध्यस्त है।कोई वकील कोर्ट में एक शेठ के स्वप्न के पुत्र के लिए केस लड़कर उसका अधिकार सिद्ध करे किन्तु स्वप्न की दशा में एक जीव और सभी जीव झूठे हैं क्योंकि जीवत्व यानी प्रमातापना गया नहीं है।वेदांत में तो सिर्फ आत्मा से ही आत्मा रहता है| 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' ज्ञान से मोक्ष है।ज्ञान से मोक्ष है अर्थात जीवत्व कल्पित है,यही मोक्ष है,अतः जीव की जिज्ञासा करनी युक्त नहीं है लेकिन ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए।ब्रह्मसूत्र और उपनिषद की सच्ची व्याख्याएं मूल शास्त्र का अर्थ स्पष्ट करती हैं।सभी व्याख्यानों का निचोड़ अर्थ यह है, कि सिर्फ ब्रह्मवाद ही सच्चा है।'नान्यपंथा

विघते-Sयनाय।अर्थात् मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।दृश्य अथवा प्रमेय का कोई भी हिस्सा आत्मा को लागू नहीं पड़ता।प्रमेय का चिंतन और उसका उपदेश उसके बाध के लिए है।ब्रह्मतत्व का चिंतन हो सकता नहीं एवम् वह उपदेश में नहीं आ सकता,ब्रह्मतत्व के लिए कोई स्पष्ट लक्षण देकर समझा नहीं सकते।उसीको तुरीय कहते हैं।कोई शब्द वहां पहुँच नहीं सकता,कोई विचार वहां पहुँच नहीं सकता।वह मन और वचन से अतीत है,और मन एवम् वचन का तत्व भी ब्रह्म है।शब्द का आत्मा अथवा प्रत्यय का आत्मा परमात्मा ही है।शब्दकोष में (डिक्शनरी में) दिए हुए सभी शब्दों का एक अर्थ करें तो वह है।* जितने शब्द हैं वे सभी किसी दृश्य वस्तु को लागु पड़ते हैं,ऐसा कोई शब्द हो कि सभी का आत्मा होकर रहता हो तो वह एक शब्द ॐ है।

जैसे घड़ा मिटटी की एक अवस्था है,दिया , तवा ये मिट्टी की दूसरी अवस्था है,शब्द भिन्न है ,लेकिन एक ही अर्थ को दिखाते हैं,वैसे ही जिन जिन शब्दों से जगत में जो जो कुछ प्रतीत हो वे सभी ब्रह्म की दशा बताते हैं,सभी विकल्प एक ब्रह्म को ही बताते हैं।एक ही सत्य अनेक शब्दों से कहा जाता है फिर भी सभी का लक्ष्य एक ही है।कितने भी शब्द बोले जाय तो भी उसमें **अ** आता है।'अकारोवै सर्वे वाक्'ऐसा श्रुति में भी कहा हुआ है।अतः **अ** दूसरे सभी शब्दों का रूपक है।जाग्रत अवस्था में सिर्फ दृश्य ही नहीं अपितु दृष्टा,वैश्वानर आदि सब **अ** के आधारपर है।**अ**कार वैश्वानर है और वही विष्णु है।जाग्रत में वैश्वानर से भिन्न कुछ भी नहीं ,वैसे ही **उ**कार में तेजस और स्वप्न समा जाते हैं और **म** कार में सुषुप्ति और प्राज्ञ समा जाते हैं।और जैसे जाग्रत और स्वप्न बराबर है और **अ** और **उ** भी एक जैसे हैं; और **उ** और **म** भी एक जैसे है।स्वप्न में दो मनुष्य नहीं है और नींद में भी दो नहीं है।तुरीय तो **अ उ म** की उपाधि से रहित है;वैसे ही ॐ **अ उ म** की उपाधि से रहित है।उसका कोई प्रमेय नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म नामी नहीं है और ॐ नाम नहीं है,अतः तुरीय को अमात्र कहते हैं।वह चतुर्थ है और सब से अतीत है।तुरीय और ॐ ऐसे दो पदार्थ नहीं है।वह अभिधान और अभिधेय से विलक्षण है।जो ॐ शब्द बोलते हैं वे शब्द बोलते हैं वैसा नहीं मानना चाहिए, वे शब्द से अतीत वस्तु बताते हैं,क्योंकि ॐ शब्द से रहित है,अतः स्वयं ही स्वयं में प्रवेश करता है,उसे ब्रह्मवाद कहते हैं।

लकड़ी को पानी में डालने पर आधी टेढ़ी लगती है,और बाहर निकालने से वह वक्रता सीधेपन में घुस गई,वास्तवमें कुछ बना नहीं था,ऐसे ही जीव उपाधि में वक्र जैसा दिखता है और उपाधि में से बाहर निकालनेपर ब्रह्म के सीधेपन में समा जाता है।वास्तव में वह (लकड़ी की भाँति) वक्र हुआ नहीं है।उपाधि में से निकलकर खुद ही खुद में समा जाता है।उसे ब्रह्मवाद कहते हैं।यह प्रक्रिया गौड़पादाचार्य ने निम्न कारिका में स्पष्ट की हुई है :-

आत्मसत्यानुं बोधेन न संङ्कल्यते यदा।

अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम।। -३-३२ ।।

अर्थ :- जिस समय आत्मसत्य की उपलब्धि होनेपर मन संकल्प नहीं करता उससमय वह अमनीभाव को प्राप्त होता है,उस अवस्था में ग्राह्य का अभाव होने से वह ग्रहण करने के विकल्प से रहित हो जाता है।

अतः आत्मा एक ही सत्य है जितने जितने वाद हैं वे सभी इस श्लोक में समा जाते हैं।इस श्लोक का अर्थ समझ में आये तो कोई वाद नहीं रहता,जहां कोई वाद नहीं रहता उसे ब्रह्मवाद कहते हैं।

उसके बाद मनको कुछ विचार करना शेष नहीं रहता।साधारण मन को कुछ विचार की रीत अच्छी लगती है,साधारण मन को मनन करना अच्छा लगता है,बोलना पसंद आता है,किन्तु ब्रह्म में मन अमन होता है,वाणी निवृत्त होती है,क्योंकि ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ विचार करने का रहता नहीं है।विचार करने की वस्तु सिर्फ आत्मा ही है,वही ब्रह्म है,तुरीय है। स्वप्न में वही है और जाग्रत में भी वही है।यह बात बृहदारण्यक उपनिषद में ज्योति-ब्राह्मण में समझाई हुई है और छान्दोग्य उपनिषद में भूमा-विद्या में समझाई हुई है।भूमा विद्या में समझाया हुआ है कि आत्मा ही ऊपर नीचे,आगे पीछे सर्वत्र है।यह सिद्धांत ही सच्चा है।यह उपदेश उत्तम अधिकारी के लिए है।साधारण मनुष्य के आगे ऐसी बातें करेंगे तो वह डर जायेगा।

एक बार श्रृंगेरी मठमें कुछ साधू भोजन कर रहे थे।वहां एक साधू ने कहा, कि शीघ्र खाना हो तो खा लो और अधिक मिठाई खाना हो तो तुरंत खा लो,क्योंकि ब्रह्मज्ञान होगा तो यह सब मिथ्या हो जायेगा और कोई भोजन नहीं कर सकेगा।साधारण मनुष्य के ज्ञान की दशा ऐसी है।

ज्ञानी की दशा ऐसी होती है,कि निर्विभाग परमात्मा में विभाग कल्पित है।जिसको अध्यास होता है उसको द्वैत जैसा दिखता है,किन्तु द्वैत सच्चा नहीं है।

एक स्थानपर दो मित्र बैठे थे,और दोनों का समय पसार नहीं हो रहा था,इसलिए क्या करना ! उसका विचार करके एक युक्ति खोजी।एक मित्र ने दूसरे से कहा कि,हमारे सामने बहुत लोग बैठे हैं।मैं ऐसा नाटक करूँगा कि तूने मेरे पैसे चुराए हैं और उसके लिए मैं यहां बैठे हुए मनुष्यों से फरियाद करूंगा ; उसके लिए तू अपना बचाव करना,इसलिए हमारा झगड़ा शांत करने के लिए सभी लोग हमारे पास आयेंगे और हम दोनों को समझाने का प्रयास करेंगे और इससे अपना समय निकल जायेगा।

ऐसे ही भगवान ने जीव को कहा, कि "तू मुझसे भिन्न है ऐसा मानले और मैं मानूंगा, कि मैं तुझसे परोक्ष हूँ और तू हररोज रोना ,कि भगवान मिलते नहीं हैं,फिर गुरु आयेंगे और कहेंगे, कि तू ब्रह्म ही है,उस समय जगत का खेल खत्म होगा।"

ऐसे ही समय पसार करने के लिए मैं तू के अध्यास का स्फुरण है।वह स्फूरण कबतक रहेगा ? ज्ञान हो तो अध्यास नहीं है,और निवृत्त की निवृत्ति है।इसतरह ज्ञेय के बिना ज्ञेय का अध्यास होता है।

तास के खेल में तास के मालिक को अच्छे पत्ते नहीं आये,खेलना हो तो जो आये उसको स्वीकार करके खेलना चाहिए,और नहीं खेलना हो तो सभी पत्ते उसीके हैं,खेल के समय भी सभी पत्ते उसके ही थे,तत्वदृष्टि ठीक हो तो कठिन सवाल भी सरल हो जाते हैं।

राजा भर्तहरि उसकी स्त्री भानुमति के सतीत्व की परीक्षा करते भानुमति को खो देता है और फिर स्मशान में उसके शव को लेकर रोने लगा।उसके पास में गोरखनाथ उनकी तुंबड़ी टूट जाने से रोने लगे।भर्तहरि ने गोरखनाथ से पूछा तुम क्यों रो रहे हो ? मैं तुम्हे ऐसी १०० तूंबड़ी लाकर दूंगा। गोरखनाथ ने कहा,कि "मुझे तो वही तुंबड़ी चाहिए,यदि मुझे दूसरा जन्म भी लेना पड़े तो भी मुझे वही तूंबड़ी चाहिए।" भर्तहरि ने कहा यह तो सिर्फ तेरी मूर्खता है वही की वही तूंबड़ी तुझे मिल नहीं सकेगी।" गोरखनाथ ने कहा कि " तू भी इस स्त्री के शव को मिथ्याभिमान से लिपटा हुआ है,यह शव मेरी तूटी हुई तुंबड़ी जैसा है,यह तुझे दूसरे जन्म में भी नहीं मिल सकता।"

इससे समझना है कि जगत की ओर अधिक ध्यान देने से जगत भाररूप लगता है।गरीब से गरीब व्यक्ति को भी अपनी झोपडी के घास में आसक्ति होती है।उस झोपड़े पर से कोई घास ले जाय तो कोर्ट में केस करता है,उसका मुख्य कारण यह है कि जगत की वस्तुओं में सत्यता घुस गई है।कोई कपड़ा बाहर से अच्छा लगता है और खोलनेपर अंदर से सड़ा हुआ लगता है तो उसको फेक दिया जाता है,वैसे जगत बंध मुट्ठी जैसा है,अंदर खाली है लेकिन ऊपर से सुंदर दिखता है। उसको संभालने का मन होता है तो वह भी ज्ञान होनेपर निवृत्त हो जाता है।जैसा अध्यास हो उसके अनुसार हेय और उपादेय लगता है।जब ऐसा लगे कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है तभी जगत हेय नहीं और उपादेय भी नहीं है।इस दशा में जगत की और दुर्लक्ष रहता है।ऐसी निर्भय दशा में अज्ञानी को भय दिखता है।अपरोक्षज्ञान में कोई प्रतिबंध हो तो वह बाहर की दृष्टि से सच्ची मानने में आती है।बाहर कुछ है और कुछ सच्चा है ऐसा लगता रहेगा तो अपरोक्ष अनुभव होगा नहीं।ब्रह्म अति प्रसिद्ध है,सुविज्ञेय है। और आत्मभूत है इसलिए सरल है।

माण्डूक्य की कारिका में कहा है कि :-

अभूतामिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।

द्वयाभावं स बुद्धैव निनिर्मित्तो न जायते ॥ ४-७५ ॥

अर्थः- लोगों को असत्य द्वैत के विषय में सिर्फ आग्रह है।परमार्थ तत्व में द्वैत है ही नहीं।जीव द्वैत के अभाव का बोध प्राप्त करे उसके पश्चात कोई कारण नहीं रहने से जन्म नहीं है।

यह बात अब अनुभव से और सायन्स से भी सिद्ध हुई है।डॉक्टर जॉन्सन में विद्वता बहुत थी।उसका कहना बहुत लोग मानते थे।जाग्रत अवस्था में उसको कोई हरा नहीं सकता था।परंतु स्वप्न में उसको एक व्यक्ति तर्क से हराने लगा।उस समय उसको बहुत गुस्सा आया।जगकर उसने उस बात पर विचार किया तो उसको लगा कि दूसरे तो कोई मुझे हरा नहीं सकते अतएव मैंने ही मुझको हराया है,इससे मेरा अपमान हुआ उसका कोई कारण नहीं है।

एक महिला को नित्य एकादशी का व्रत करने की आदत थी।किन्तु एक दिन स्वप्न में उससे एकादशी के दिन भोजन हो गया।उसका प्रायश्चित करने का उपाय किसी साधू से पूछा । साधू ने कहा की सच्ची गलती का प्रायश्चित होता है लेकिन झूठी गलती का प्रायश्चित नहीं होता अथवा चित्त को ब्रह्मरूप बनाना ही प्रायश्चित्त है।

भले जगत सच्चा जैसा लगे,लेकिन उसका पूरा विचार करके उसे उड़ाना है।

प्रकरण -२

-------------प्रथम गलती--------------

(जाग्रत अवस्था चालू रखने से होती है) पहली गलती मनुष्य के जीवन में यह होती है कि जो जगत मनुष्य की दृष्टि के सामने है वह दृष्टि से स्वतंत्र है ऐसा वह मानता है।जैसे कोई कमरे में एक घड़ा स्वतंत पड़ा हो वैसे मनुष्य मानता है कि मैं जगत में बैठा हूँ,जगत स्वतंत्र है और मैं नहीं होऊंगा तो भी जगत तो चलता ही रहेगा;मेरे रिश्तेदार हैं और मैं जगत का एक हिस्सा हूँ।यह साधारण मनुष्य की लौकिक दृष्टि है।उस दृष्टि की गलती सुधारने के लिए शास्त्र की दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए।शास्त्रों में अलग-अलग दृष्टि-बिंदुओं से विचार किया हुआ है।

मनुष्यों का अनुभव जो जाग्रत अवस्था का है उस अनुभव को वह मनुष्य सच्चा मानता है,यानी कि जैसा उसको दिखता वैसा सच्चा मानता है,और स्वप्न एवम् सुषुप्ति को जाग्रत अवस्था के भाग मानता है,लेकिन वह नहीं समझता कि सुषुप्ति में जाग्रत अवस्था बिलकुल नहीं रहती।और दूसरे दिन दृष्टि के अनुसार नया जीव बनता है।साधारण मनुष्य ऐसा मानता है कि "कल जो मैं था वही आज जगा हूँ," ऐसी प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति है।उसमें काल का परिच्छेद (discontinuity) हो जाता है।स्वप्न आता है तभी जाग्रत थोडा भी नहीं रहता।जाग्रत दशा आती है तभी स्वप्न जरा भी नहीं रहता,फिर भी मैं वही का वही जगा यह भ्रान्ति है।मनुष्य नित्य का जाग्रत गलती से एकजैसा मानकर जाग्रत को बढ़ाता है।खुद भूतकाल में था ऐसा मानकर जाग्रत को बढ़ाता है और भविष्य में उसको कुछ होगा ऐसा मानकर भविष्यकाल उत्पन्न करता है,वास्तव में जाग्रत का जीव उस अवस्था के साथ रहता है,आगे-पीछे नहीं।स्वप्न का जीव भी स्वप्न की अवस्था के साथ रहता है।वह दूसरे स्वप्न की अवस्था में नहीं आता,वैसे ही एक जाग्रत का जीव दूसरे जाग्रत में नहीं आता,फिर भी गलती यह होती है कि जाग्रत अवस्थापर मेरा आधार है,जाग्रत अवस्था को ऊपर रखकर मैं जीता हूँ यह भी भ्रांति है।स्वप्न अवस्थापर आधार रखकर मैं जीता हूँ यह भी भ्रान्ति है।वास्तवमें जाग्रत अवस्था मेरे जीवनपर आधार रखकर रही हुई है।और यदि मैं दूसरे विचारों में खो जाउ तो जाग्रत अवस्था नहीं रहती।स्वप्न में या निंद्रा में,मूर्च्छा में अथवा शराब के नशे में भी जाग्रत अवस्था नहीं रहती।हम जाग्रत के ऐसे कुँडाले में हैं कि वह कुंडाला हमको बांध नहीं सकता,फिर भी गलती से अपने को उस कुंडाले में बंधे हुए मानते हैं।ऐसी साधारण मनुष्य की दृष्टि है।उसे ठीक करने के लिए शास्त्रों में (विशेषकर माण्डूक्य उपनिषद में) जाग्रत का स्थान वैश्वानर बताता है।यह वैश्वानर संपूर्ण जाग्रत अवस्था को बनाता है और इस कारण से विश्वानर जाग्रत के संपूर्ण जगत को व्यापकर रहता है।अतः मैं वैश्वानर हूँ ऐसा मानना दृष्टि मार्जन की प्रथम रीत है।इसप्रकार से प्रथम गलती का सुधार होता है।

मैं जाग्रत का भाग हूँ ऐसा मानने के बदले जगत मुझपर अवलंबित है ऐसा स्वीकार करना चाहिए,मानना चाहिए।आत्मा की सत्ता के बिना जाग्रत या कोई भी अवस्था नहीं रह सकती।आत्मा से जाग्रत अवस्था अलग है कि नहीं उसका विचार करनेपर मालूम पड़ेगा कि आत्मा से भिन्न जाग्रत का अस्तित्व नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद में वैश्वानर विद्या में उपासना कांड में भी कहा है,कि वैश्वानर की उपासना करना अर्थात समष्टि की उपासना करना।उसमें राजा अश्वपति उद्दालक को वैश्वानर विद्या समझाते हुए कहते हैं कि (५-१८) तुम सभी लोग वैश्वानर आत्मा को अलग मानकर अन्न भक्षण करते हो लेकिन कोई ऐसी उपासना करे कि वह वैश्वानर मैं हूँ तो वह सभी लोकों में,सभी प्राणियों में,और सभी

आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है।यह वैश्वानर आत्मा का मस्तक सुतेजा(द्यु लोक) है,चक्षु विश्वरूप सूर्य है,प्राण प्रथक वत् र्मारूप वायु है,शरीर का मध्यभाग आकाश है,बस्ती जल है और पृथ्वी उसके चरण है,वृक्ष:स्थल वेदी है,लोम दर्भ हैं,ह्रदय गार्हपत्य अग्नि है।मन अन्वाहार्य पचन है और मुख आह्वानीय अग्नि है।ऐसा थोडा वर्णन माण्डूक्य उपनिषद में भी है।

अतः व्यक्ति की जाग्रत दशा छोड़कर समष्टि का जाग्रत ग्रहण करना चाहिए।ऐसा उपासक के लिए है।माण्डूक्य में जाग्रत के सप्तांग का वर्णन है ,उसमें वैश्वानर की वास्तविक व्यापक भावना है।अतएव मनुष्य ने ऐसा नहीं मनना चाहिए कि स्वयं मस्तक और पैर के बीच में समा गया है।यह तुम्हारा मस्तक नहीं है किन्तु स्वर्ग तुम्हारा मस्तक है।'मूर्धैवसुतेजा' ध्यान में जब तेज का अनुभव मिलता है तभी वैश्वानर का मस्तक दिखा ऐसा मानना चाहिए।

माण्डूक्य उपनिषद में जाग्रत अवस्था का अच्छा स्पष्टीकरण है।यह समझना सरल है और कठिन भी है।सिर्फ शब्द को पकड़ने से यह उपनिषद कठिन लगेगा।लेकिन भावार्थ को समझकर मनुष्य अंदर आये तो वह सरल भी है।यदि कोई सिर्फ शब्द पकड़ेगा तो लौकिक दृष्टि मिलेगी और भावार्थ से अंदर जाने का प्रयास होगा तो आलौकिक शास्त्रीय भाव मिलेगा।अतः तर्क करने के बदले नयी दृष्टि खोलने की जरूरत है।सभी उपनिषदों का सिद्धांत ऐसा है कि साधारण दशा में मनुष्य बैठे हो उनको वहां से उठाकर ब्रह्मदशा तक ले जाना।आत्मा का सच्चा स्वरुप समझाने से पहले माण्डूक्य उपनिषद की शुरुआत में व्यवहारिक दृष्टि सच्ची है कि नहीं उसका विचार शुरू किया हुआ है।वहां आत्मा को चार पाद वाला कहा है।इससे उसको चार पैर वाला नहीं समझना चाहिए,लेकिन चार प्रकार की अवस्था समझनी है।उसमें भी प्रथम की अपेक्षा दूसरी अधिक व्यापक है और दूसरी से तीसरी अधिक व्यापक है,अंत में उसका भी निषेध करके तुरियपद समझाया हुआ है।अतः जो जाग्रत को चालू रखना चाहते हैं वे बड़ी गलती करते हैं।

माण्डूक्य के प्रथम मन्त्र में अभिधान की बात आती है।अर्थात् ब्रह्म का नाम अथवा वाचक ॐ है।ऐसा बतलाया है।दूसरे मन्त्र में अभिधेय का स्वरुप यानी ब्रह्म का स्वरुप समझाया हुआ है।उन दोनों का सार ऐसा है कि अभिधान और अभिधेय अलग नहीं रखने हैं,किन्तु दोनों का एकसाथ लय करके तुरियपद का अनुभव लेना है।वह अनुभव ऐसा है,कि उसका कोई अस्वीकार नहीं कर सकता,क्योंकि वह सभी का स्वरुप है,और उससे सर्व साधारण है।

साधन का उपयोग कर साधन से अतीत वस्तु दिखाने की प्रक्रिया को 'आगम प्रमाण' कहते हैं।वह पत्यक्ष प्रमाण से या अन्य प्रमाण से प्राप्त करने की वस्तु नहीं है।आगम की रीत ऐसी है, कि साधन को लेकर साधन से अतीत होना।दूसरी व्यवहारिक और लौकिक रीत ऐसी होती है कि वह साधन को संभालकर रखती है।अतः श्रुति तुरीय का तत्व आगम के द्वारा समझाती है,उस रीत से ही साधन से अतीत हो सकते हैं।किसी व्यक्ति की परछाई को देखकर मनुष्य को खोज लेते हैं और फिर परछाई को छोड़ देते हैं।जहां सीमेंट कॉक्रीट का काम चलता हो वहां बॉक्सिंग के लिए आधार के लकड़े रखे जाते हैं,वे आधार के लकड़े रखने के लिए नहीं होते।उसका समय होता है तभी उनको निकाल दिए जाते हैं।ऐसे ही जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ये तुरीय को समझने के आधार रूप हैं।उन आधारों से अतित होते सीखना चाहिये।

कुछ लोग न्याय के तर्क बहुत शब्दों का प्रयोग करके करते हैं,लेकिन वे नहीं जानते कि आगम की रीत से सभी शब्दों को छोड़ना है।दृष्टांत के लिए पेट में दर्द हो तभी मुंह टेढ़ा होता है,पेट पर हाथ घूमाता दिखता है,लेकिन यह देखकर ध्यान पेट के अंदर के दर्द की ओर जाता है।मुह के दर्द का लक्ष नहीं होता,वैसे ही आगम के शब्द तुरीय ब्रह्म का लक्ष्य दिखाकर खिसक जाते हैं।

माण्डूक्य उपनिषद में १२ मन्त्र हैं।श्री शंकराचार्य ने और श्री गौड़पदाचार्य ने उन मन्त्रों को समझाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि जो सभी के आध्यात्मिक अनुभव को लागु हो सकता है।उसका दूसरे प्रकार से अर्थ करना युक्त नहीं है।

माण्डूक्य उपनिषद में कहा है कि सभी ॐ कारमय है और जो तीनों काल से अतीत है वह भी ॐ कारमय है,लेकिन यह बात शब्द की दृष्टि से विरुद्ध है,क्योंकि एक ही तत्व जो तीनों काल में रहा हुआ है वह तीन काल से अतीत कैसे रह सकता है,इसलिए वहां श्री शंकराचार्य कहते हैं कि शब्दपर ध्यान नहीं देते हुए अंदर बाहर से जो अतीत तत्व है वही सच्चा है।

दूसरे मन्त्र में कहा है कि 'अयमात्मा ब्रह्म',यह आत्मा ब्रह्म है। उसमें भी विरोधाभास जैसा है क्योंकि आत्मा यहां है और ब्रह्म वहां है।अतः शब्द के अनुसार अर्थ नहीं लेना चाहिए,किन्तु यहां और वहां से रहित जो परम तुरीय तत्व है वही अनुभव करने की वस्तु है। अतएव जाग्रत दशा जैसी साधारण अनुभव से दिखती है वैसी रह नहीं सकती उसको चालू रखना यह बड़ी गलती है।

कोई बालक हो और उसको उसकी माँ की गोद में बैठना है और वह दूर से हाथ पसाररता है,उसका अर्थ माँ और बेटा दोनों समझ जाते हैं;ऐसे ही वेदांत के शब्द अनुभवरूप ब्रह्म का परिचय देते हैं।बालक के हाथ जैसे माँ को नहीं पहुंचते वैसे शब्द ब्रह्मतक नहीं पहुचते।वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ शब्द भी पर्याप्त नहीं है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच कुछ संबंध जैसा लगता है,लेकिन ब्रह्म और वेदांत के शब्दों के बीच कुछ संबंध नहीं है,फिर भी अनुभव से समझमें आता है।वह बालक के हाथ के जैसा है।संसार के हरेक शब्द किसी वस्तु को बताते हैं,किन्तु वेदांत में हरेक शब्द किसी वस्तु को नहीं बताते।वे सिर्फ अनुभव में ले जाते हैं।अतः ऐसे कार्य के लिए नए शिक्षक चाहिए और नए प्रकार के विद्यार्थी चाहिए।

मनुष्य की जाग्रत अवस्था वैश्वानर है।उसमें दृष्टा दर्शन और दृश्य इन तीनों का समावेश होता है;परंतु इतने शब्दों से पूरा अर्थ समझमें नहीं आयेगा,अतः वेद की भाषा में वैश्वानर के मस्तक को सूतेजा कहा है।सूर्य उसकी आँख है, प्राण वायु है,आकाश उसका शरीर है।आकाश (अथवा space) कोई नियत पदार्थ नहीं है।जैसे स्वप्न का आकाश स्वप्न की दृष्टि के समय उत्पन्न होता है,वैसे जाग्रत का आकाश भी देखनेवाले की दृष्टि के अनुसार बनता है।यह बात वर्तमान के सापेक्षवाद से सायन्स से सिद्ध हुई है।अतएव हररोज सुबह उठकर जगत को नहीं देखना,अपितु अपनी संपूर्ण जाग्रत अवस्था की जाँच करनी चाहिए।उसमें जीव स्वयं है उसका प्रमाण भी है।यह सब मिलकर एक जाग्रत अवस्था बनती है।उसे वैश्वानर कहते हैं।उसे जेस्टाल्ट नामक मानस शास्त्र में Configuration कहते हैं और सापेक्षवाद के सायन्स में उसको system of reference कहते हैं।उसमें कोई अलग वस्तु नहीं है।जैसे स्वप्न का तेजस संपूर्ण स्वप्न को व्यापकर रहता है वैसे जाग्रत का वैश्वानर संपूर्ण जगत को व्यापकर रहता है।साधारण मनुष्य सिर्फ जाग्रत अवस्था के दृश्य का विचार करता है,परंतु यह भूल है उस दृश्य के साथ स्वयं रहा है और अपना प्रमाण रहा होता है अतएव चालू जाग्रत अवस्था के ज्ञान में बदलाव लाना चाहिए और सभी एकसाथ देखने की आदत बनानी चाहिए।यदि वैश्वानर का स्वरुप ठीक समझमें आएगा तो तुरीय का स्वरुप समझने में कोई कठिनाई रहेगी नहीं।

जैसे स्वप्न दशा एक प्रकार का परस्पर आकर्षण है और उसमें कोई वस्तु नहीं है वैसे जाग्रत दशा भी एक प्रकार का परस्पर आकर्षण है और उसमें कोई वस्तु नहीं है।चलती हुई ट्रेन में बैठकर बाहर के वृक्ष जैसे दिखते हैं वैसे बाहर नहीं होते।हमारी पृथ्वी भी एक प्रकार की रेलवे ट्रेन है।उसके ऊपर रहकर पृथ्वी के साथ घूमते हुए सूर्य में उदय और अस्त मालूम पड़ता है,लेकिन इसे सूर्य के साथ कोई संबंध नहीं है।सूर्य में उदय अस्त नहीं है लेकिन प्रतीत होते हैं।और सूर्य पृथ्वी से बड़ा है फिरभी छोटा दिखता है।तो मनुष्य क्या देखता है ? स्वप्न के दृश्य कोई वस्तु अवलंबन नहीं है वैसे जाग्रत में भी जो वैश्वानर है वह एक प्रकार का दर्शन है।उसके सात अंग बतलाये हुए हैं लेकिन वे वास्तविक अंग नहीं समझने चाहिए।उन सात अंगों की बात स्वप्न के तेजस को भी लागु होती है,फिर भी जैसे स्वप्न में सात अंग सच्चे नहीं हैं वैसे जाग्रत में भी सात अंग सच्चे नहीं हैं।वहां सप्तांग का अर्थ इतना ही करना है,कि संपूर्ण जाग्रत अवस्था ही वैश्वानर है वैसे द्वैत जैसा है परंतु द्वैत नहीं है।उसमें परस्पर उपाधि का आकर्षण है फिर भी उसमें कोई दृश्य वस्तु नहीं है।भेद उपाधि के बीच में है,वस्तु के बीच में नहीं है।उपासना में वैश्वनार को आत्मा का विशेषण लिया हुआ है।ज्ञानमार्ग में वैश्वानर आत्मा की उपाधि है।स्वप्न में जानेपर वैश्वानर का लय हो जाता है।वही वैश्वानर स्वप्न में तेजस के रूप में अनुभव में आता है।

उपनिषद में जो सिद्धान्त है उसमें आँख से देखने की बात नहीं है,परंतु ज्ञान से समझना है और अनुभव करना है।स्वप्न आँख से देखने की वस्तु नहीं है।वैसे वैश्वानर भी आंख से देखने की वस्तु नहीं है।रज्जु-सर्प भी आंख से दिखने जैसा नहीं है।कुछ लोग कहते हैं ,कि हमें समाधी में अमुक प्रकार का अनुभव होता है,लेकिन सभी को अनुभव हो सके वैसा अनुभव बताना चाहिए।ऐसा अनुभव श्री शंकराचार्य के सिद्धांत में और श्री गौड़पदाचार्य के सिद्धांत में मिल सकता है।वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, कि जो सार्वत्रिक अनुभव को ही लागु हो सके।वे जीव को अंतर्मुख करते हैं।श्री शंकराचार्य के बाद अनेक लेखक हुए हैं।उन्होंने संस्कृत में अनेक पुस्तकें लिखि है किन्तु वे शंकराचार्य की मूल पद्धति समझ नहीं पाये हैं,और अविद्या को गलत अर्थ में घसीटा है।

न्याय की रीत ऐसी है कि हरेक वस्तु न्याय से एवम् प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए,अन्यथा वह वस्तु सच्ची नहीं है।सामने इदंता रूप रूपा पड़ा हो और रूपा दिखे तो उसका प्रमाण अथवा ज्ञान देना चाहिए ऐसी न्याय की रीत है और वेदांत की रीत ऐसी है कि आत्मा से अनात्मा भिन्न है यह भ्रान्ति है,अतएव अनात्म की निवृत्ति करने से ही सच्चा ज्ञान होता है।आत्मा स्वयं जो जाना उससे अलग है और जो नहीं जाना उससे भिन्न है।उसमें आरोप का अपवाद करने की रीत है और वह तीन अवस्था का विचार करने से सरल बनती है क्योंकि एक क्षण में एक अवस्था से दूसरी अवस्था बन जाती है।

माया का सभी अवस्थाओं में परस्पर आकर्षण रहता है,फिरभी वहां किसी वस्तुतत्व का आलंबन नहीं होता,जैसा स्वप्न में है वैसा जाग्रत में है।जाग्रत में जिस समय बाहर वस्तुयें दिखती हैं उस समय वहां बाहरपना देखनेवाले के शरीर के अभिमान से उत्पन्न होता है।देखनेवाला अपने शरीर के अंदर की घटना को अंदर कहता है और बाहर की घटना को बाहर कहता है और फिर आकर्षण तैयार होता है,किन्तु अंदर बहार का दिखावा जैसा स्वप्न में है वैसा जाग्रत में है।शरीर के अध्यास से अहम् इदम् का दिखावा होता है और उसका परस्पर आकर्षण होता है।वहां तुरीय का स्वरुप अनुभव से बाहर है।सच्चे ज्ञान के बिना आकर्षण तूटेगा नहीं और मैं-तू का अध्यास दूर होगा नहीं।भक्त शरणागति से अहम् इदम् का अध्यास दूर करते हैं।

अतः हरेक दर्शन के अंदर की रचना ठीक से जाँच करने की जरूरत है।जाग्रत का दर्शन और दृश्य जैसा दिखता है ठीक वैसा है कि नहीं उसकी जाँच करनी चाहिए।उसमें अधिकांश आधार संबंध पर है।स्वप्न में हरेक जीव का और हरेक वस्तु का जो स्वभाव है वह सामने के दृश्य में से नहीं आता,लेकिन स्वप्न के जीव की अवस्था में से आता है वैसे ही जाग्रत में दिखनेवाले जीव का स्वभाव और वस्तुओं का स्वभाव देखनेवाले के दर्शन में से आता है।यदि देखनेवाला खराब होगा तो उसको जगत खराब लगेगा। मीराबाई को राणा ने जहर भेजा उस समय तो वह जहर था लेकिन मीरा के दर्शन के पास आनेपर वह चरणामृत बन गया था,अतः जाग्रत अवस्था का दर्शन सच्चा मानने से पहले बहुत विचार करने की जरूरत है।जितना जीव के जीवन को समझना कठिन है उतना ही जगत को समझना कठिन है।झूठे कानून को सच्चे क़ानून बनाना इसमें से साधारण मनुष्यों के जीवन बनते हैं और वही से गलती की शुरुआत होती है।

आजकल की विद्यापीठों में सच्ची विद्या नहीं है।आजके कई विद्यार्थी विद्यार्थी नहीं है,किन्तु रोट्यार्थि अथवा विषयार्थी हैं।उनको शिक्षकों के लिए भाव नहीं है।वे कॉलेज के चालू वर्ग में उपस्थित नहीं रहते।और कई बार पढाई के समय शोर मचाते हैं,इससे शिक्षक भी कंटाल जाते हैं।आज के विद्यार्थियों को नाटक रुचता है ,सिनेमा देखना पसंद है,सामाजिक मण्डल पसंद हैं लेकिन विद्या पसंद नहीं है।कोई अच्छा वक्ता कॉलेज में भाषण करने जाय और उसका भाषण विद्यार्थियों पसंद नहीं आये तो विद्यार्थी उसको नहीं सुनते।वे शिक्षकों के व्याख्यानों की ओर भी दुर्लक्ष रखते हैं और उनके प्रति कागज के तीर बनाकर फेकते हैं।ऐसे युवा भविष्य के नागरिक और प्रधान होनेवाले हैं।विद्यार्थियों में अनुसाशनहीनता म.गांधीजी के सविनय भंग के आंदोलन की विरासत है।उस समय प्रजा राज्य के क़ानून तोड़ने लगी थी तो छोटे लोग बड़े लोगों के वचन भी तोड़ने लगे।इससे कार्यदक्षता निम्न होती जाती है। आजकी शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थी और शिक्षक का संपर्क कम रहता है।अतः आजकी युनिवर्सिटीयां फालतू माल उत्पन्न करनेवाले

कारखानेरूप हो गई है।और कोलेजो में अमर्याद भीड़ होती है और युवान लड़के-लड़कियों के सहशिक्षण से संयम भी कम हो गया है।व्याख्यान,संमेलन,परीक्षा और कोन्वोकेशन और अभिनंदन बढे हैं,फिर भी सच्चे ज्ञान की रीत लुप्त हो गई है।

छोटी उम्र में इन्द्रियों का जगत शुरू होता है,आंख दूर से देख सकती है,लेकिन कान के लिए नजदीक की घटना चाहिए।स्पर्श के लिए वस्तु उससे भी अधिक नजदीक चाहिए ऐसी आदत से मैं-तू के भेद उत्पन्न हैं।अतः भेद अर्थात् संबंध समझना है।ऐसा संबंध जैसा स्वप्न में है वैसा जाग्रत में है।अतएव जाग्रत की हरेक घटनाओं पर पुरेपूरा विचार करने की जरूरत है और विचार करके जाग्रत का लय करने की जरूरत है।यदि जाग्रत चालू रहेगा तो जाग्रत का प्रमाण चालू रहेगा और जाग्रत प्रमाण चालू रहेगा और जाग्रत का प्रमाता भी चालू रहेगा।अतएव नए जीवन में नए धर्म की जरूरत है।

विद्युत आँख से नहीं दिखती।फिर भी विद्युत की क्रिया आँख से दिखती है।हरेक छोटेसे छोटे बिंदु को कद नहीं होता फिरभी बिंदु से बनी हुई रेखा में कद दिखता है।छोटे से छोटे काल में घटना नहीं होती,फिर भी काल की में बनी हुई घटना में काल मालूम पड़ता है।अतएव मनुष्य और उसका बनाया हुआ जगत बहुत विचित्र प्रकार के तत्व हैं।तत्व को जानने के बदले उसके ऊपर के आवरण हटाने की जरूरत है।उसमें पहला आवरण जाग्रत अवस्था को सच्ची मानने में है,वह जैसी दिखती है वैसी नहीं है।ट्रेन में बैठने के बाद जाग्रत अवस्था बदल जाती है।ट्रेन में नींद आ जाय तो मनुष्य उस समय ट्रेन में नहीं है,और जगने के बाद दूसरे विचारों में खो जाय तो अपने स्टेशन पर उतर नहीं पयेगा।उस समय कल्पना का कल्पित आकर्षण होता है।ऐसा आकर्षण जाग्रत में साधारण जीवन में अनेक बार रहता है।

सामाजिक समाज की भावना में भी मनुष्य अच्छा दिखने का प्रयास करता है और अपने मत का आग्रह रखता है।वह भी एक प्रकार का आकर्षण है ,कि जिससे कर्म का भार मालूम पड़ता है।ऐसी दशा में सच्चा ज्ञान नहीं

मिलता।

वैश्वानर अथवा विराट का मस्तक तेजरूप है और उसका शरीर आकाशरूप है।वे मस्तक और शरीर आदि जाग्रत की दृष्टि के समय उत्पन्न होते हैं।जैसे साधारण मनुष्य के शरीर के अंदर का आकाश गोल है वैसे वैश्वानर के शरीर के अंदर का आकाश गोल है,इसे वर्तमान सायन्स में Curvature of space कहते हैं।आकाश गोल होने से और जाग्रत की दृष्टि के साथ रहा हुआ होने से,जब तक जाग्रतावस्था रहती है तभी तक आकाश रहता है।मनुष्य जाग्रत में से स्वप्न में जाय तो जाग्रत का आकाश रहेगा नहीं,किन्तु स्वप्न में स्वप्न की दृष्टि के अनुसार बनता होता है।

हमारे शास्त्रों में आत्मा को समझाने के लिए निम्नलिखित दो रीत मानी हुई है :-

१. वृत्ति को अंतर्मुख करके सीधा आत्मा का अनुभव कराना यह उपनिषद की रीत है।

२. जीव को कुछ दृश्य देकर इन्द्रियों के द्वारा और मन के संकल्पों के द्वारा पहुँचने की जो रीत है वह योगमें,सांख्य में,न्याय,वैशेषीक और पूर्व मीमांसा में ली हुई है।

प्रथम रीत में तीन अवस्था का विचार आता है दूसरी रीत में जाग्रत अवस्था का अधिक विचार आता है। दूसरी रीत में प्रमाता स्वयं अपना प्रमातापना छोड़ता नहीं है,और इससे स्वप्न के समय यह स्वप्न है उसका पता नहीं चलता।स्वप्न खुद का ही रचा हुआ है ऐसा उस समय पता नहीं चलता। जाग्रत अवस्था भी अपनी रची हुई है,फिर भी अपने से स्वतंत्र हो वैसा मान लेता है।जाग्रत में और स्वप्न में दूसरे से बातें करने की इच्छा होती है अतएव साधारण प्रकार की इन्द्रियां और साधारण प्रकार का मन और साधारण प्रकार के देशकाल तैयार होते हैं,किन्तु वह स्वयं बनाता है उसका भान नहीं रहता।ऐसी गलती का स्वरुप माण्डूक्य उपनिषद में

बतलाया हुआ है।यूरोप में कान्ट नामक तत्वज्ञानी ने ऐसी भूल दिखाई और वर्तमान के प्रो.आइंस्टाइन के सापेक्षवाद के गणित से अधिक स्पष्टता से जानने में आती है,फिर भी अभी बहुत कम लोग उसे समझ पाये हैं।जगत जीव का बनाया हुआ है ऐसा बहुत कम लोग समझते हैं।

आकाश भी मनुष्य का बनाया हुआ है।The new concept of space is both relativistic and positivistic and it explicitly recognises,the postulational or constructive nature of space.जैसे स्वप्न का आकाश मनुष्य बनाता है वैसे जाग्रत का आकाश मनुष्य बनाता है।आकाश का गुण शब्द तन्मात्रा है और उसका कारण तामस अहंकार है अर्थात् जबतक तामस अहंकार उत्पन्न नहीं होता तभीतक देश,स्थान अथवा आकाश अथवा space उत्पन्न नहीं होते।अतः सामने दिखनेवाला जगत स्वतंत्र नहीं है,और आकाश भी स्वतंत्र नहीं है।जीव का बनाया हुआ आकाश (space) गोलाकार में होता है,उसको curvature of space कहते हैं।

मनुष्य को दिनमें १२ घण्टे का समय मिला हो,उसमें वह मैं तू के भेद करके १२ घण्टे खर्च कर देता है।इसप्रकार जीव काल में से स्थान बनाता है।अतएव देश और काल के बंधन से छूटना हो तो मनुष्यों की बातों में रूचि कम रखनी चाहिए और जाग्रत अवस्था को चालू नहीं रखनी चाहिए।जाग्रत को ठीक करना आ जाय तो जाग्रत तुरीय हो जायेगा।स्वप्न को ठीक करना आये तो स्वप्न भी तुरीय हो जायेगा।

मैं जाग्रत का हिस्सा हूँ ऐसा मानने के बदले जाग्रत मुझपर अवलंबित है ऐसा स्वीकारना चाहिए,मानना चाहिए,आत्मा की सत्ता के बिना(अर्थात् तुरीय की सत्ता के बिना) जाग्रत या कोई भी अवस्था टिक ही नहीं सकती।

पंचतंत्र में ऐसी एक कथा आती है,कि एक शेर को पिंजडे में बंद देखकर एक ब्राह्मण को दया आयी।उसने पिंजडे खोलकर शेर को मुक्त किया तो वह शेर ब्राह्मण को खाने को उद्यत हुआ,उतने में एक स्यार आया उसके सामने ब्राह्मण ने फरियाद की,स्यार ने शेर से कहा कि तू कैसे बंधा था यह प्रत्यक्ष दिखा।शेर वैसा दिखाने के लिए पिंजड़े में गया तो स्यार ने पिंजड़ा बंद कर दिया।सिद्धांत में जाग्रत का अभिमानी मनुष्य के लोक में लौकिक पिंजड़े में मनुष्य जैसा हो जाता है परंतु लौकिक भावना रूपी पिंजड़े से बाहर निकले तो वह वैश्वानर है और संपूर्ण विश्व को अपने में समा सकता है।इन्द्रियों से अनुभव लेने से परतंत्रता आती है।

साधारण मनुष्य को ऐसा लगता है कि मेरे विचार में और मेरी इच्छा में दूसरे हिस्से ले तो ठीक नहीं है।अतएव वह अपने मत के लिए दूसरों के मत मांगता है किन्तु इसप्रकार उसकी जाग्रत अवस्था बढ़ती जाती है और दृढ़ होती जाती है।जैसे स्वप्न के लिए स्वप्न के मनुष्यों के प्रमाण काम नहीं आते वैसे जाग्रत के लिए जाग्रत अवस्था के मनुष्यों के प्रमाण काम नहीं आते।अतः श्रुति प्रमाण की जरूरत पड़ती है।

प्रकरण -३

(कल्पित संबंध को सच्चा संबंध मानने से होती है)

मैं जगा और मुझे स्वप्न आया इन दो अनुभव पर अधिक विचार करने की जरूरत है।मैं जाग्रत में हूँ तभी सब जगते हैं ऐसा ज्ञान है,लेकिन जब मैं स्वप्न देखता हूँ तभी सभीको स्वप्न दृश्य नहीं होता।जगने के बाद ऐसा लगा कि स्वप्न के जीव मुझसे स्वतंत्र नहीं थे,लेकिन जाग्रत अवस्था के जीव मुझसे स्वतंत्र माने यह बड़ी भूल है,क्योंकि अगले प्रकरण में कहे अनुसार संपूर्ण जाग्रत मेरे

आधारपर रहता है।जैसे एक कमरे से दूसरे कमरे में जा सकते है वैसे सिर्फ मेरा ही जब मुझे स्वप्न आया तभी वह अनुभव है और जब मैं जगा तभी किसीने मुझे सभी के बीच में फेक दिया ऐसा साधारण अनुभव है किन्तु ऐसे दो प्रकार के भेद करने की जरूरत नहीं है।जाग्रत में भी यदि जीव अंतर्मुख दृष्टि विकसित करे तो अपनी गलती का पता चले और उसकी जाग्रत अवस्था उसके आधारपर है ऐसा पता चले।वर्तमान का सापेक्षवाद का सायन्स कहता है कि The only events which an observer actually experinces are events at himself यानी संपूर्ण दृश्य देखनेवाले की अवस्था के सिवा कुछ नहीं है।दो कदवाला जगत Two dimensional और तीन कदवाले Three dimensional world जगत बाहर से देख सकते हैं,लेकिन चार कदवाला जगत (यानी Four dimensional world) बाहर से नहीं दिख सकता लेकिन अंदर से दिख सकता है।स्वप्न को स्वप्न के बाहर जाकर देखना हो तो देख नहीं सकते और वैसे ही जाग्रत को जाग्रत के बाहर से जाकर देखना हो तो नहीं देख सकते।अतः जो कुछ संबंध होते हैं वे अंदर के संबंध हैं,फिर भी मनुष्य ऐसा मानते हैं कि स्वयं बाहर की वस्तुओं के साथ और बाहर के मनुष्यों के साथ संबंध बनाते हैं।

स्वप्न में कोई बाहर का जगत है और उसमें स्वयं अहमदाबाद से मुंबई गया,ऐसा जगने के बाद नहीं मानता,लेकिन जाग्रत में ऐसा मान लेता है कि बाहर का जगत है और स्वयं वास्तवमें अहमदाबाद से मुंबई गया है। वास्तवमें जैसे स्वप्न का मनुष्य अपने पलंग से बाहर नहीं जाता,वैसे जाग्रत में भी अपनी जाग्रत की दृष्टि छोड़कर अहमदाबाद से मुंबई नहीं जाता।अतः वह अपने जाग्रत के प्रमाण में ही आता जाता है।इसप्रकार बाहर का जगत स्वतंत्र नहीं है,अपितु हमारी दृष्टिपर अवलंबित है।इसपर से बुद्ध का विज्ञानवाद बहुचर्चित हुआ।उसके सामने व्यवहारिक दृष्टिवाले लोग कहते हैं कि हम सभी के साथ युक्त बातें कर सकते हैं तो बाहर का जगत अंदर है और सिर्फ विज्ञानमय है,अथवा कल्पित है ऐसा क्यों माने? हमारे जगने से पहले स्वतंत्र जगत था और हमने जगकर देखा।ऐसा बाहर की दृष्टिवाले(अविचारी)लोगों का मत है।अन्तर्मुख दृष्टिवाले मनुष्य स्वप्न के दृष्टांत से ऐसा मानते हैं कि जगत आदि कुछ है कि नहीं,यह तो मैं जैसी कल्पना करता हूँ वैसी कल्पना होती है।स्वप्न में जैसे कोई वस्तु अलग नहीं है वैसे जाग्रत में भी कोई वस्तु अलग नहीं है।

कुछ लोग मानते हैं कि स्वप्न तुरंत चला जाता है और जाग्रत लंबा समय रहता है लेकिन यह बात सच्ची नहीं है।जाग्रत भी स्वप्न में चला जाता है,सुषुप्ति और मनोराज में भी चला जाता है,अतः किसीके साथ सच्चा संबंध नहीं होता,फिर भी थोड़े समय में बहुत काल की भ्रांति हो सकती है।उसके लिए योगवशिष्ठ में निम्नलिखित चार प्रसंग दिए हुए हैं :

१. गाधी ब्राह्मण को डुबकी में हुआ अनेक वर्षों का अनुभव।

२. लीलारानी को थोड़े समय में सरस्वती ने अनेक जन्म दिखाएँ।

३. लवण राजा को थोड़ी क्षण में बहुत काल का अनुभव हुआ था।

४. रेवत राजा को ब्रह्मा के राज्य में आधे घण्टे में अनेक युग बीतने का अनुभव हुआ था।

अतः जो लोग मानते हैं कि स्वप्न क्षणिक है और जाग्रत स्थिर है ऐसी बात सच्ची नहीं है।वे सच्ची बात नहीं समझ सकते।जाग्रत की वस्तुयें भी देखनेवाले के ज्ञान से अलग नहीं है।अतः सिनेमा के शूटिंग के समय देखनेवाले की दृष्टि काल के अनुसार सिनेमा के दृश्य तैयार करने पडते हैं।इसलिए जहां गति नहीं है लेकिन सिर्फ चित्र है वहां गति की भ्रांति होती है।अतः जाग्रत अवस्था स्वप्न जैसी है,इतना ही नहीं ,अपितु जाग्रत स्वयं ही स्वप्न है,ऐसा कहना चाहिए।स्वप्न के समय स्वप्न को जाग्रत कहते हैं लेकिन वास्तवमें वह स्वप्न ही है।

कई बार जब हम दूसरे लोगों के सामने नीति के सिद्धांत रखते हैं तभी सच्चे सिद्धांत नहीं होते किन्तु मेरी इच्छा के अनुसार दूसरे इच्छा करे तो ठीक ऐसी इच्छा होती है।वह मेरी अवस्था है,उसको साधारण बनाने की इच्छा व्यर्थ है।

किसी मनुष्य ने एक मोम के पिंड में से मोम के गणपति बनाये,दूसरे व्यक्ति ने उसके पास राम की मांग की,तो उस व्यक्ति ने उसी मोम में से राम बनाये,फिर उसने पूछा कि गणपति कहां गये ? बनाने वाले ने उत्तर दिया कि वही राम है;ऐसे ही जाग्रत और स्वप्न एक ही है।लेकिन जाग्रत का अभिमानी स्वप्न को सौतेली "माँ" मानता है और शास्त्र की दृष्टि से स्वप्न कि अपनी सच्ची "माँ" मानते हैं।एक ही तत्व स्वप्न के रूप में दिखता है और वही जाग्रत के रूप में दिखता है और अधिक विचार करनेपर वही तुरियरूप में दिखता है।जाग्रत और स्वप्न एक ही है ऐसी बात गौड़पादाचार्य ने वैतथ्यप्रकरण में विस्तारपूर्वक समझायी हुई है।उसमें कहा है कि जो पहले नहीं है बादमें नहीं वह वर्तमान में भी नहीं है।जाग्रत स्वप्न में चला जाता है और स्वप्न जाग्रत के समय चला जाता है और व्यवहार का प्रयोजन भी दोनों में बराबर है और दोनों में मिथ्यात्व भी बराबर है,अतएव संबंध भी बराबर है।दोनों में आत्मा अपनी माया से अपने में कल्पना करता है।अंदर बाहर के भेद भी जैसे स्वप्न में है वैसे जाग्रत में है।रज्जु का निश्चय हुआ हो तभी उसमें सर्प आदि के विकल्प नहीं रहते।वैसे अद्वैत आत्मा का निश्चय होनेपर अन्य विकल्प नहीं रहते और सिर्फ तुरीय रहता है;अर्थात् परमार्थ दृष्टि से देखनेपर कोई प्रलय नहीं है अथवा उत्पत्ति नहीं है।किसी को बंधन नहीं है,कोई साधक नहीं है,मुमुक्षु नहीं है और मुक्त नहीं है।जितने असद् भाव है वे भी अद्वैत से ही कल्पे हुए हैं।ब्रह्म से कोई वस्तु पृथक् नहीं है और अपृथक् भी नहीं है।

माण्डूक्य उपनिषद में आत्मा को चार पाद वाला कहा है।ये चार पाद ज्ञानकी भूमिका के पर्याय समझने हैं।एक ही आत्मा बहिर्मुख होता है तभी वैश्वानर कहलाता है;अंतःप्रज्ञ होता है तभी तेजस कहलाता है और प्रज्ञानघन होता है तभी प्राज्ञ कहलाता है,होता है।वह वास्तविक आत्मा की दशा नहीं है,परंतु अहंकार की दशा है।आत्मा के लिए अंदर बाहर जैसा नहीं है लेकिन प्रमाता के शरीर की दृष्टि से बहिष्प्रज्ञता और अंतःप्रज्ञता बनती है और वह आत्मा में आरोपित होती है।कूटस्थ आत्मा की जब बाहर की प्रज्ञा विषय होती है तभी उस अपेक्षा से आत्मा को बहिष्प्रज्ञ कहा जाता है और वह प्रज्ञा अंदर आती है तभी उसे औपचारिकता से अंतः प्रज्ञ कहलता है।सूर्य मेरे सामने है ऐसा सभी कहते हैं(यद्यपि स्वयं सूर्य के पास नहीं टिक सकता) ऐसे ही मेरा आत्मा ऐसा उपाधि से कहा जाता है। सूर्य बहुत दूर है फिर भी मेरे सामने है ऐसा मानकर व्यवहार होता है वैसे आत्मा मेरा है ऐसा व्यवहार होता है।वास्तवमें आत्मा मेरेपन से अतीत है,उसमें संबंध नहीं होता,फिर भी मेरापन माया से आ जाता है।स्वप्न में भी संबंधी नहीं है फिरभी माया से संबंध सच्चा मान लिया जाता है।

महाभारत के मोक्षपर्व में ब्रह्मा से रूद्र ने पुछा है, कि आप किसका ध्यान करते हो ? उसके उत्तर में ब्रह्मा रूद्र से कहते हैं ,कि "यद्यपि आत्मा कोई भी इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता तो भी जो मेरा आत्मा है वह तुम्हारा आत्मा है,ऐसी आत्मा को जानने की रीत है,अतः जो मेरा आत्मा है और तुम्हारा आत्मा है उसका ध्यान करता हूँ।वह सर्व का साक्षीभूत है और किसी को ग्राह्य नहीं हो सकता।"

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देही संस्थिताः।

सर्वेषां साक्षी भूतौऽसौ न ग्राह्य क्वचित्॥

सर्व का अंतरात्मा साक्षी है और विषयी है।वह किसीका विषय नहीं बनता।जाग्रत अवस्था में अनेक जीव दिखते हैं,स्वप्न में भी अनेक दिखते हैं,लेकिन कोई आत्मा को पकड़ नहीं सकते,क्योंकि वह सभी के अंदर है।

कठोपनिषद में कहा है कि :-

स्वप्नांतं जागरीतान्तं उभौ येनानुपश्यति।

महान्तं विभु आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

अर्थ :- जिसकी सत्ता से स्वप्न का और जाग्रत का अंत दिखता है ऐसे महान विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करते।यहाँ आत्मा को महान और विभु कहा है,अतः आत्मा किसी व्यक्ति का आत्मा नहीं है,सर्व का आत्मा है,सभी का अन्तरात्मा है।अतएव उसको दूसरा कोई व्याप नहीं सकता,पृथ्वी में जल व्यापक है,जल में तेज,तेज में वायु और वायु में आकाश व्यापक है,वैसे आत्मा में व्यापक हो सके वैसी कोई वस्तु नहीं है,क्योंकि वह सर्व का आत्मा है,इसलिए संबंध नहीं बनता।

स्वप्न और जाग्रत संबंध हो वैसी कोई अवस्था नहीं है।अतः जाग्रत और स्वप्न के बीच किसी प्रकार का संबंध नहीं है।अनेक मानस शास्त्री जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था के बीच का संबंधो का विचार करते हैं और उसका संबंध प्राप्त करने के लिए प्रयास करते हैं किन्तु वास्तवमें कोई संबंध नहीं है।कोई मनुष्य बीमार पड़ा हो तो उसको किसप्रकार के स्वप्न आते हैं उसका विचार करके मानस शास्त्रवाले डॉक्टर उसको दवाई देते हैं,लेकिन वास्तवमें जाग्रत और स्वप्न के बीच संबंध नहीं होता।संबंध समसत्ता में होता है।स्वप्न की कितनी भी बातें हो तो भी जाग्रत का डॉक्टर जाग्रत के मनुष्य को जाग्रत की दवाई देता है।कोई रुपया सरकार ने चलण से रद्द कर दिया हो फिर भी लोगों की इच्छा उसको चालू रखने की हो तो लोग उसप्रकार से व्यवहार कर सकते हैं।ऐसे ही स्वप्न का सिक्का खोटा है,फिर भी स्वप्ना सच्चा मानकर उस समय लोग व्यवहार कर सकते हैं।स्वप्न दृष्टि से देखे तो यह ठीक है लेकिन जाग्रत की दृष्टि से देखे तो वह खोटा सिक्का है।स्वप्न की दृष्टि से देखे तो स्वप्न में और जाग्रत में कोई अंतर नहीं है।जैसे जाग्रत में अंदर बाहर है वैसे स्वप्न में भी है।जाग्रत और स्वप्न दोनों बराबर हैं।उसमें कोई अंतर नहीं है।यह वैतथ्य प्रकरण का सार है।इसका फल ऐसा आता है कि जाग्रत और स्वप्न दोनों समान हैं।उनको सच्चे कहो या झूठे कहो परंतु आत्मा की दृष्टि से दोनों झूठे हैं।जैसी सत्ता आत्मा की है वैसी सत्ता जाग्रत की या स्वप्न की कदापि नहीं है।उसको सच्चा कहो या झूठा कहो उसके लिए कोई आग्रह नहीं है।इसप्रकार आत्मा का अद्वैतपना सिद्ध होता है,दूसरी सत्ता का अभाव होने से (द्वितीयस्य अभावात्।)

माण्डूक्य के वैतथ्य प्रकरण में कहा है कि

“ **कल्पयत्यात्म नात्मान मात्मा देवः स्वमायया।**

स एव बुध्यते भेदानिति वेदांत निश्चय” (२-१२)

अर्थ : स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है वही सभी भेद को जानता है ऐसा वेदांत का निश्चय है।और उस प्रकरण के अंतिम भाग में कहते हैं कि ऐसे आत्मतत्व को जानकर लोक में जड़ की भाँति व्यवहार करना,अर्थात् स्तुति नमस्कार से एवम् स्वधाकार से रहित होकर चल(शरीर) और अचल(आत्मा) में विश्राम करनेवाला होकर यादृच्छिक हो जाना अर्थात् अनायास प्राप्त वस्तु में संतुष्ट रहना और तत्व से च्युत नहीं होना,यानी अन्य कोई चिंतन नहीं करना।संक्षेपमें,चित्त को अद्वैत के स्मरण में लगा देना। माला की भांति अद्वैत का स्मरण नहीं करना है,अपितु स्वरुप में स्थिति करना है।ज्ञान होने के बाद किसी प्रकार का संबंध नहीं है और किसीप्रकार का स्मरण करने जैसा नहीं रहता है,सिर्फ वस्तु स्थिति को यथावत् रखना है।

कोई गाड़ीवान गाड़ीपर बैठा हो और बोलता जाय कि "मैं गाड़ीवान हूँ" "मैं गाड़ीवान हूँ" तो दूसरे लोग उसको कहेंगे कि,तू गाड़ीवाला है ऐसा सभी जानते हैं,उसमे बोलने की क्या जरूरत है ? ऐसे ही "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जपने की जरूरत नहीं है।ज्ञान वस्तुतंत्र है,वह ज्ञापक है,कारक नहीं है।कोई कन्या विवाह करके ससुराल जाती है उतने समय में निश्चित कर लेती है कि "मैं विवाहित हूँ" फिर कदाचित उस घटना को भूल न जाय करके "मैं विवाहित हूँ" ऐसा जप नहीं करती।

अवस्था का विचार भी छोड़ना चाहिए।आत्मा के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है कि जिसका दिखाव अवस्था के रूप में हो।जाग्रत तुरीय है,स्वप्न तुरीय है और सुषुप्ति भी तुरीय है।

अब आवश्यकता लगती है तो अधिक विचार करो कि जो कुछ दिखता है वह क्या है ? और उसको देखनेवाला साक्षी है वह क्या है ? साक्षी को भी कुछ तो दिखता है।इन्द्रियों को जगत दिखता है,उसे awareness कहते हैं।लेकिन साक्षी को संपूर्ण प्रपंच दिखता है,उसको Awaresness of awareness कहते हैं।उसका अर्थ क्या ? मुझे जैसा प्रपंच दिखता है ,ऐसा साक्षी को भी दिखता होगा ऐसी प्रमाता को भ्रांति होती है।

दृष्टान्त के तौरपर एक पागलों की अस्पताल थी,वहां रहनेवाले पागलों को विश्राम करने के लिए रविवार को एक बगीचे में बैठने का कार्यक्रम था।वहां बाहर के मनुष्यों को आने कि छूट थी।उस बगीचे में एक व्यक्ति आया और वह जहां बैठा वहां पर एक पागल जैसा नहीं दिखनेवाला पागल बैठा था। नये आनेवाले व्यक्ति ने उससे पूछा कि "तू तो पागल जैसा नहीं लगता फिर यहां क्यों बैठा है ?" पागल ने कहा कि "मुझे पागल समझकर दूसरे ने यहां धकेल दिया है,लेकिन तू यहाँ कैसे आया ?" नये आनेवाले ने कहा कि "मैं यहां घूमने के लिए आया हूँ" इसपर पागल ने कहा कि "तू पागल की अस्पताल में से घूमने आया लगता है क्योंकि यह स्थान पागलों को आराम करने के लिए रखा हुआ है।" ऐसे ही प्रमाता साक्षी को अपने जैसा प्रपंच को देखनेवाला मानता है;लेकिन वह प्रमाता का अनुभव है,साक्षी का नहीं है।

वेदांत मनुष्य को क्यों नहीं समझमें आता ! वेदांती को साक्षीपना चाहिए और प्रमातापना छोड़ना नहीं है इसलिए वेदांत समझमें नहीं आता।जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्था ठीक समझमें आये तो दोनों तुरीय हो जायेगी।अतः अधिक किसी अभ्यास की जरूरत नहीं है ,क्योंकि निवृत्त की निवृत्ति है।

गलती यह होती है कि अनुभव पर स्थिर होने के बजाय मनुष्य प्रमाता,प्रमाण और प्रमेय पर और उसके संबंध पर स्थिर होता है।पूर्वपक्ष वालें कहते हैं कि जगत तो प्रत्यक्ष दिखता है और आप मिथ्या क्यों कहते हो ? मिथ्या कहोगे तो भी द्वैत होगा,लेकिन वे अनुभव तक नहीं पहुँचते और संबंध का विचार नहीं छोड़ सकते।ऐसी कठिनाई को दूर करने के लिए जिस दशा में सभी दृश्यों का बाध होता है उसे समझने से वेदांत अधिक स्पष्ट होता है और वह सुषुप्ति है।साधारणतया जो सो गया हो उसको सुप्त कहते हैं और जिसको स्वप्न आया हो उसको भी सुप्त कहते हैं,लेकिन सच्चा सुप्त वह है कि जिसको कोई वासना नहीं है।साधारण मनुष्य का अनुभव ऐसा है कि वासना के बाद दृष्टि आती है,लेकिन वास्तवमें दृष्टि के बाद वासना आती है अर्थात् वासना का ज्ञान होने के बाद वासना उत्पन्न होती है,अतः मन को ठीक करने की जरूरत है।

दो बौद्ध साधू घूमते हुए एक नदी के पास पहुंचे,वर्षाऋतु उससमय तुरंत पूरी हुई थी अतएव नदी में पानी ठीक ठीक था।दोनों साधुओं ने कपडे बराबर बांधे और नदिपार करने की तयारी की,उतने में किसीके रुदन की आवाज सुनाई पड़ी।

" लगता है कोई रो रहा है।" पहला साधू बोला।दूसरे ने कहा "यह तो स्त्री की आवाज है हम क्यों उसकी फिकर करे " प्रथम साधू ने कहा कि "हमें देखना तो चाहिए ही" दोनों साधुओं ने आगे जाकर देखा तो नदी के किनारेपर एक सुंदर युवती बैठी हुई विलाप कर रही थी।

"तू क्यों रो रही है ?बहन" प्रथम साधू ने पूछा।युवती ने रोते हुए कहा कि "नदी में इतना पानी है और मुझे मेरी बीमार माँ को मिलने सामने किनारे पर जाना है।अब मैं कैसे जाउंगी ?"

प्रथम साधू थोड़ी देर के लिए उलझन में पड़ गया,लेकिन तुरंत उसको मार्ग सुझा।उसने स्त्री को अपने कंधेपर बैठने को कहा।दूसरा साधू यह देखकर क्रोध करके उससे थोडा अलग हो गया।

उसपार पहुँचकर साधू ने स्त्री को उतार दी और चुपचाप आगे चलने लगा।थोडी ही देर में दूसरा साधू उसके साथ हो लिया।चलते चलते रोषपूर्वक प्रथम साधू को बोला कि "छी,छी,आज तूने बहुत बड़ा दूषित कर्म किया है,हमारे से स्त्री का स्पर्श हो ही कैसे सकता है ?"

प्रथम साधू ने कोई उत्तर नहीं दिया।

दूसरे साधू ने फिर से कहा "हमारे गुरूजी यह बात जानेंगे तो तुझे दंड नहीं देंगे ?"

अभी भी पहला शांत ही था।

फिर दूसरे ने प्रथम को कहा कि "स्त्री का स्पर्श हमारे व्यवहार में त्याज्य है और फिर वह युवा स्त्री थी;तूने आज घोर पाप किया है।"

प्रथम साधू ने शांत स्वर में कहा,"भाई मैंने तो उस स्त्री को नदी किनारे उतार दी,और छोड़ भी दी लेकिन तू अभी भी तेरे विचार से उठाकर क्यों चलता है ?"

इससे समझना है कि मन अथवा झूठा ज्ञान अथवा मिथ्या दर्शन कामना उत्पन्न करता है।जिसका मन वश है उसे योग प्राप्त है।

सोये हुए दो प्रकार के हैं।एक देखता है और इच्छा करता है और दूसरा देखता नहीं और इच्छा करता नहीं।माया की नींद भी नींद है।उसमें से जो जगता है वही सच्चा जगा हुआ है।माण्डूक्य की कारिका में कहा है कि:-

अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते,

अजम निद्रम स्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१-१६॥

अर्थः- जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जगता है,यानी तत्वज्ञान प्राप्त करता है उस समय अज,अनिद्र और स्वप्न रहित अद्वैत तत्व का बोध प्राप्त होता है।अपने को अज कब मान सकता है जब स्वयं अनिद्र और अस्वप्न (यानी जाग्रत और स्वप्न से रहित) माने अर्थात वास्तवमें तीनों अवस्था जब नहीं हो तभी अज का पता चले।ऐतेरेय उपनिषद में कहा है कि जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों स्वप्न है।(अ ३-१२) तस्य तत्र आवसथा स्त्रय: स्वप्ना: अय मावसथेऽयभाव सथोऽ यमावसथ जाग्रत का स्थान नेत्र है।स्वप्न का स्थान कंठ में है और सुषुप्ति का स्थान ह्रदय है,लेकिन ये तीनों स्वप्न हैं।मनुष्यों ने सुषुप्ति को समझने का प्रयास किया है लेकिन ठीक से उसको समझ नहीं सके हैं क्योंकि वहां किसी प्रकार का संबंध नहीं है और मनुष्यों को संबंध अच्छा लगता है।जाग्रत में उनको इतना मजा आता है कि सुषुप्ति को वे सौतेली "माँ" समझते हैं श्रुति और गुरु कहते हैं कि सुषुप्ति कैसी है उसके विषय में सभी विचारों को छोड़ना इसका नाम सुषुप्ति है,क्योंकि संकल्प से वह जाग्रत हो जाती है।

जाग्रत और स्वप्न या सुषुप्ति एक के बाद एक आये इससे अवस्था नहीं बनती।उसमें कोई एक अवस्था दूसरी अवस्था का परिणाम नहीं है।और कारण नहीं है।जाग्रत को ठीक से देखेंगे तो जाग्रत स्वप्न ही है।जैसे जौहरी रत्न की ठीक से परीक्षा करता है वैसे ही वैश्वानर की अवस्था का ठीक से विचार करने से उसका तुरीय में प्रविलापन होता है,अतएव जाग्रत और स्वप्न का मिथ्यात्व समान है।श्रीमद् भागवत के एकादश स्कंध में श्री कृष्ण भगवान उद्धवजी को कहते हैं कि(११-१३-३०):-

यावान्नानार्थधी: युसो न निवर्तेत युक्तिभिः ।

जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥

अर्थः-जबतक युक्तियों के द्वारा पुरुष की भेदबुद्धि निवृत्त नहीं होती तभीतक वैसा मुर्ख जगता होनेपर भी स्वप्न में है।जैसे स्वप्न में विषयों का अनुभव लेने से जाग्रत का भ्रम होता है वैसा भ्रम जाग्रत में होता है।

यर्हि संसृति बन्धोऽयमात्मानो गुणवृत्तिदः।

मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्याग स्तद्गुण चेतसाम् ॥११-१३-२८॥

अर्थः-जीव को गुण वृत्ति प्रदान करनेवाला जो इस संसार का बंधन है उसको साक्षीरूप मेरे तुरीय स्वरुप में रहकर छोड़ देना।

अहंकार कृतंबन्धमात्मनोऽर्थ विपर्ययम्।

विद्वान्निर्विद्य संसरचिन्तां तुर्ये स्थित स्त्यजेत् ॥११-१३-२१॥

अर्थः-बंधन अहंकार से उत्पन्न होता है,और वह अनर्थकारी है,अतएव विद्वान पुरुष को सब ओर से उपराम होकर मैं,जो तुरीयरूप आत्मा हूँ उसमें स्थिर होकर संसार की चिंता छोड़ देना।

असत्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।

गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदशो यथा ||११-१३-३१||

अर्थः-आत्मा से अतिरिक्त दुसरे सभी पदार्थों का अत्यंत अभाव है अतः आत्मा की माया से प्रतीत होनेवाले भेद (देहादि) और उसकी गति (स्वर्गादि) और उसका हेतु(कर्म) स्वप्न दृष्टा के प्रपंच के सदृश्य मिथ्या है।

मंद बुद्धि वालों को लगता है कि आत्मा सद्वितीय है,उनकी मदद करने के लिए श्रुति नींद(सुषुप्ति) का दृष्टांत देती है और निश्चय करके बताती है कि आत्मा के सिवा कुछ नहीं है,अर्थात् आत्मा सद्वितीय नहीं है।जैसे कोई पिता अपने बालकों को बंद मुट्ठी दिखाकर पुछे कि "इस मुट्ठी में जो है वह किसको दू ?" तभी बालकों को जिज्ञासा होती है कि " इस मुट्ठी में क्या होगा ?" लेकिन जब वह मुट्ठी खोलता है तभी कुछ नहीं होता,वैसा ही तुरीय स्वरुप आत्मा में है।स्वप्न में बहुत प्राप्त करने की मनुष्य महेनत करता है। जगने के बाद क्या मिलता है ? कुछ नहीं मिलता। सुषुप्ति खुल्ली मुट्ठी है और जाग्रत और स्वप्न बंद मुट्ठी हैं।जाग्रत में कुछ है ऐसा आभास है।सुषुप्ति में वह नहीं है।सुषुप्ति में सिर्फ जाग्रत का मिथ्यात्व ही बतलाया नहीं जाता किन्तु जाग्रत का सच्चा स्वभाव आत्मा ही है ऐसा सुषुप्ति से सिद्ध होता है।

सुषुप्ति में एकीभूत होता है।जाग्रत और स्वप्न में अनेकीभूतता की भ्रांति है,गलती है।एकीभूत यानी एक होना लेकिन वहां अनेक वस्तुओं की एकता नहीं करनी है किन्तु भिन्न भिन्न ज्ञानों की एकावस्था(घनता) देखनी है।सभी सुखों की घनता को आनंदघन कहते हैं।इसप्रकार सद् घन,चिद् घन और आनंदघन सुषुप्ति का स्वरुप है।लौकिक दृष्टि से नींद में कुछ नहीं है।कुछ नहीं है यानी ज्ञान नहीं है,आनंद नहीं है ऐसा नहीं । वह जाग्रत की घनीभूत अवस्था है।इसलिए कुछ नहीं ऐसा नहीं।नींद में मनुष्य ब्रह्मभाव को पाता है ऐसा आचार्य कहते हैं और साधारण लोग कहते हैं कि लकड़े की तरह सोया है। साधारण मनुष्य जानते हैं कि नींद में सुख नहीं है,जाग्रत के काल में ही सुख है।अतः नींद कम करके जाग्रत के काल को बढ़ाओ,रात्रि में भी काम करो और ऐसा कोई वैज्ञानिक मिले कि सिर्फ एक दो घण्टे की नींद से काम चल जाय तो सभी सुखी हो जाय परंतु यह भ्रान्ति है। इतना सारा उत्पादन और प्रवृति बढ़ाते

हैं उन सभी का कारण क्या है ? यंत्र में शक्ति मनुष्य देता है और मनुष्य को शक्ति नींद में से मिलती है अतः सुषुप्ति(नींद) का आत्मा सर्वेश्वर है।जो जो कार्य कर सके वह ईश्वर है।वह ये प्राज्ञ है।नींद में से प्राज्ञ से शक्ति प्राप्त करता है,वही आत्मा की शक्ति है,किन्तु आज के मनुष्य यह नहीं समझते,वे कहते हैं कि अधिक काम करो तो अधिक पैसे देंगे,सोने की क्या जरूरत है ? ऐसी गलत धारणा सुषुप्ति के बारे में है।

पुस्तक अलमारी में रखी हो वैसे जीव सुषुप्ति में नहीं सोता परंतु अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए सोता है।आराम में राम मिलता है,नई शक्ति मिलती है।नींद के बिना कितने ही विटामिन दिए जाय तो भी उतनी शक्ति नहीं मिल सकती।विटामिन से भी नींद के जैसी शक्ति नहीं आयेगी।

प्रमाता को प्रमेय के साथ अविनाभाव संबंध है,इसलिए दोनों अकेले नहीं रह सकते।अतएव जगत के विचार के साथ ही जीव का विचार रहा है। दोनों की निवृत्ति एकसाथ होती है और दोनों का जन्म भी एकसाथ होता है।अतः जो स्कूलों में जगत का ज्ञान दिया नहीं जाता उन सभी स्कूलों में विद्यार्थियों को मिथ्याज्ञान मिलता है।स्वप्न और जाग्रत दोनों में जीव और जगत एकसाथ है,वहां जगत का आधार जीव के ऊपर है अतः जीव की निवृत्ति अथवा प्रमाता की निवृत्ति ही जगत की निवृत्ति है।वेदांत को छोड़कर शेष सभी प्रमाण प्रमाता को जीवित रखते हैं।वेदांत में प्रमाता कल्पित है,वह सुषुप्ति में चला जाता है।

प्रकरण -४

----तीसरी गलती----

(क्रिया से सुख मिलता है ऐसा मानाने में है)

नींद में जीव सो जाता है,ताजा होता है।ब्रह्मरूप होता है,फिर शक्तिशाली होकर जगता है।यह हररोज का अनुभव है,अतः अहंकार की शक्ति से अधिक बड़ी शक्ति का अनुभव हररोज होता है।वह भगवान की शक्ति है।अतः सुषुप्ति के जीव को माण्डूक्य उपनिषद में सर्वेश्वर कहते हैं।जगने के बाद उसे प्राज्ञ कहते हैं।सुषुप्ति का आत्मा अर्थात् प्राज्ञ अपने में अणुमात्र भी परिवर्तन किये बिना,अर्थात् कुछ कम हुए बिना प्रमाता,प्रमाण और प्रमेय को बाहर दिखाता है।

सुषुप्ति दशापर कई लोग ऐसा विचार करते हैं कि आत्मा सक्रीय है,कि निष्क्रिय ? सगुण है कि निर्गुण ? सुषुप्ति में वह निर्गुण और निष्क्रिय प्रतीत होता है,जाग्रतमें और स्वप्न में वही का वही क्रिया रूप में अनुभव में आता है यानी जाग्रत में और स्वप्न में वह सगुण और सक्रियरूप मालूम पड़ता है,तो आत्मा का सच्चा स्वभाव कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर कईयों को नहीं मिलता और उससे वे उलझते हैं,उसका कारण यह है, कि जो विषयी है वे उसको विषयीरूप में देखकर विचार करते हैं। Subject को Object मानकर विचार करते हैं और आत्मा सदा साक्षीरूप से स्थिर है ये बात भूल जाते हैं।सगुण और निर्गुण,सक्रीय और निष्क्रिय बाहर की वस्तु में बन सकते हैं किन्तु ऐसे द्वंद्व-धर्म आत्मा के नहीं है।जैसे कि एक घोडा तबेले में आराम करता है और बाहर काम करता है।अतएव एक दशा में वह निष्क्रिय दिखता है और दूसरी दशामें सक्रीय दिखता है,ऐसा गलती से आत्मा के साथ जोड़ा जाता है।वह सिर्फ जाग्रत के अनुभव का हिस्सा है।वह आत्मा का स्वरुप नहीं है स्थिति और गति सिर्फ जाग्रत अवस्था में है।;अन्यत्र नहीं है;लेकिन मुर्ख मनुष्य जाग्रत की स्थिति और गति का संबंध स्वप्न और नींद के साथ जोड़ते हैं और तीनों अवस्था का परस्पर संबंध है ऐसा मानकर विचार करते हैं।नींद में जीव तबेले के घोड़े की नाईं आराम करता है और जाग्रत में वही जीव काम करता है,(घोड़े की नाईं) लेकिन यह भूल है,ऐसा नहीं मानना चाहिए कि भगवान नींद में निष्क्रिय रहते हैं और कारण रूप में रहते हैं और जाग्रत और स्वप्न के रूप में भगवान कार्य के रूप में और सक्रीय रूप में रहते हैं।संबंध का विचार जाग्रत की वस्तु देखते समय शुरू होता है,वहां संबंध की बात

आती है।जाग्रत का जो दिखावा है उसे आत्मा में मानना और उसका कार्य कारणभाव मानना यह मूर्खता है,जाग्रत के संबंध का कारण जाग्रत में है,आत्मा में नहीं है।

एक मनुष्य किसी मकान में सो गया।उस समय कोई कॉन्ट्रैक्टर आया और उसकी चारों तरफ आईने लगा दिए।जगने के बाद वह मनुष्य कहता है कि "अरे ! मैं अकेला था और मेरे इतने सारे रूप हो गए ! जो जगा वह कोई हरेक आईने में प्रवेश नहीं कर गया।भले ही अनेक दिखे,गौण प्रयोग से देखे तो अनेक लगेगा। मनुष्य को अपना मुंह आईने में दिखता है,लेकिन वास्तवमें वहां नहीं है।"भगवान ने जगत को उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया वह भी ऐसा ही प्रवेश है।दृष्टांत में तो सभी आईने कॉन्ट्रैक्टर के लगाये हुए है किन्तु सिद्धांत में तो आईने भी देखनेवाले की दृष्टि में से निकलते हैं।अहंता के बिना इदंता नहीं बनती।रासलीला में भगवान गोपियों के साथ खेले तो कैसे खेले होंगे उसको समझाने के लिए निम्नलिखित श्लोक आता है :-

'रमे रमेशो व्रज सुन्दरिभिर्यथार्भक: स्वप्रतिबिंब विभ्रमः (१०-३३-१७)

अर्थः-जैसे बालक अपने प्रतिबिंब के साथ खलेलता है वैसे रमारमण भगवान ने व्रज की रमणियों के साथ रमण किया,फिर भी यह सिर्फ जाग्रत अवस्था का भाग है।वह आत्मा की वस्तु स्थिति नहीं है।

तीन अवस्था का विचार निम्नलिखत रीत से हो सकता है :-

१. सिर्फ आत्मा ही है दूसरा कुछ भी नहीं है।

२. आत्मा ही अपने को नाम रूप से बाहर निकालता है और फिर नींद में उसको समा देता है,तो प्रथम रीत की अपेक्षा दूसरी रीत को सच्ची क्यों माननी चाहिए,यानी आत्मा जिसके साथ रमण करता है वह क्या है ?

जाग्रत में इतना सारा खेल करता है वह सच्चा है कि अकेला रहता है वह सच्चा है ?

उपरोक्त स्वप्न और निंद की बात जाग्रत के दृष्टांत से कही।उसमें स्वप्न की और नींद की जाग्रत में आनेवाली स्मृति का भी जाग्रत के प्रमाण के अनुसार निश्चय किया।वास्तवमें स्वप्न और नींद के अनुभव हम सिर्फ जाग्रत की स्मृतिशक्ति से निश्चित नहीं करते,लेकिन यह दो दशाओं का साक्षात् अनुभव है।अब विचार करो कि दोनों में प्रमाण कौनसा सच्चा? अनुभव सच्चा कि स्मरण सच्चा ? साधारण लोग स्वप्न के स्मरण को अर्थात् स्वप्न की स्मृति को अधिक सच्चा प्रमाण मानते हैं और स्वप्न का अनुभव कैसे होता है उसका विचार नहीं करते,लेकिन जाग्रत में स्वप्न याद आया यह प्रमाण अधिक सच्चा मानते हैं।उस समय वह स्वप्न लगता है,लेकिन स्वप्न के अनुभव के समय वह स्वप्न नहीं था।

किसी को पूछें कि स्वप्न यानी क्या ? तो वह उत्तर देगा कि उसमें क्या समझना है ! थोड़ी देर चला और फिर चला गया,उस समय मैंने बहुत लोग देखे थे ऐसा कहता है।नींद में और सुषुप्ति में तो मैंने कुछ भी नहीं जाना था,ऐसा कहकर नींद के अनुभव का घोटाला कर देता है।जो सिर्फ जाग्रत अवस्था का जीवन ही सच्चा मानते हैं और उसीमें आसक्त रहते हैं वैसे लोग उपरोक्त प्रकार से विचार करते हैं।जो जाग्रत को अधिक सच्चा मानते हैं वे स्वप्न का और नींद का अधिक विचार नहीं करते।यह स्वाभाविक है।परंतु पंडित और परीक्षक भी स्वप्न को स्वप्न और नींद को जाग्रत की स्मृतिशक्ति से जितना समझ में आये उतना तत्व मानते हैं और मनवाते हैं यह आश्चर्य है और भूल है।स्वप्न और नींद का जो अनुभव होता है वह कैसे होता है उसका वे ठीक से विचार नहीं करते।पंचदशी के लेखक भी उस अनुभव को समझने की गलती करते हैं और कहते हैं कि जाग्रत के विषय स्थिर है,स्वप्न के विषय अस्थिर हैं और नींद में कुछ ख़बर नहीं है,यानी अज्ञान है,और संवित् तीनों में एक है।अन्य कुछ वेदांतीओं ने भी पंचदशी की भांति

विचार किया हुआ है,परंतु उनसे हम पूछे कि स्वप्न के अनुभव के समय तुमको वह स्वप्न लगता था कि नहीं ? और उस समय विषय स्थिर लग रहे थे ?

वेदांत संप्रदायवाले कि जो शंकराचार्य के बाद हुए हैं वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा तीन अवस्था का साक्षी है और पंच कोष से विलक्षण है।तीनों अवस्थाओं में आत्मा का साक्षीपना है यह बात सच्ची है और आत्मा पंचकोश से विलक्षण है यह बात भी सच्ची है,फिर भी वे तीन अवस्थाओं की परीक्षा ठीक से नहीं करते।जाग्रत की यादशक्ति पर आधार रखकर वे कहते हैं कि सुषुप्ति में अज्ञान था। वहां अज्ञान का अनुभव था वैसा अनुमान किया जाता है।जाग्रत में कहते हैं कि सुषुप्ति के समय मुझे कुछ पता नहीं था।स्मरण अनुभवपूर्वक होना चाहिए,ऐसा मानकर वे कहते हैं कि सुषुप्ति में अज्ञान था।ऐसे लोगों के सामने निम्नलिखित दो प्रश्न रखने चाहिए।

१. तुम जो अनुमान करते हो उसके अनुसार तूम कह सकते हो कि तुमको सुषुप्ति का अनुभव नहीं हुआ इसलिए अनुमान करते हो ?

२ . जाग्रतमें जो सुषुप्ति की स्मृति होती है वह सचमुच सुषुप्ति की स्मृति है कि नहीं ?

अब उत्तर का विचार करेंगे।कोई कहे कि मैंने खाया है और दूसरा कहे कि मैंने खाया हो वैसा स्मरण हो रहा है,तो उन दोनों में अधिक सच्चा क्या है ? अतएव स्मृति से अनुभव का प्रमाण अधिक सच्चा होना चाहिए।अब सुषुप्ति के अनुभव का विचार करो। सुषुप्ति में अज्ञान का ठीक या कुछ भी अनुभव होता है कि नहीं ? वहां कुछ भी अनुभव नहीं है तो फिर अज्ञान था ऐसा कैसे जाना ! छान्दोग्य उपनिषद में ब्रह्मा और इंद्र का ऐसा संवाद है।

सुषुप्ति का अनुभव है कि कुछ पता नहीं है। वहां अनुभव नहीं होने का कारण क्या ? वहां अन्य कुछ भी नहीं है,इसलिए अनुभव नहीं होता,अर्थात् अनुभाव्य नहीं है,विषय नहीं हैं।माण्डूक्य उपनिषद में कहा है कि वहां सब एकीभूत होता है।आत्मा से अलग दूसरा कुछ होता तो जानने में आता,परंतु वहां आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है।अनुभव के अनुसार श्रुति के अनुसार देखे तो वहां आत्मा के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है।ऐसे प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ।

अब दूसरे प्रश्न का विचार करेंगे।स्मरण अथवा यादशक्ति यह खुद क्या वस्तु है ? अनुभव की अपेक्षा स्मृति का अधिक प्रमाण नहीं है।स्मरण यानी क्या ! पहले अनुभव हुआ हो उसको याद करे उसे स्मरण अथवा स्मृति कहते हैं।मैं जब छोटा था तभी इस नदी में नहाया था ऐसा याद करना उसे स्मरण कहते हैं और ऐसा काल भी चाहिए कि जो अनुभव को स्मरण को जोड़े,और वैसा काल समान और एक जैसा होना चाहिए,क्योंकि समसत्ता में साधक बाधक होता है।सुषुप्ति में तो काल ही नहीं है,और जाग्रत का काल सुषुप्ति के साथ संबंध नहीं करता,तो जाग्रत और सुषुप्ति का संबंध कैसे हो सकता है ! ऐसी वस्तु स्थिति होने से मैं इतना समय सोया ऐसा स्मरण सच्चा है कि झूठा ? उसका निश्चय निम्नलिखित दो प्रकार से होता है।

१. नींद में अज्ञान का अनुभव नहीं है।

२. जो स्मरण हुआ वह सच्चा नहीं है। उसका अधिक खुलासा "एक सत्ता एक वस्तु" पुस्तक में दिया हुआ है।

जो वस्तु बन नहीं सकती वह बनी हो ऐसा विद्वान् परीक्षक क्यों मान रहे हैं ?

दूसरे कुछ यहाँ ऐसा प्रश्न करते हैं कि नींद में यद्यपि सिर्फ आत्मा ही हो तो उसी समय मोक्ष हो जाना चाहिए और वेदांत के उपदेश की भी जरूरत नहीं रहेगी और सभी को नींद तो आती है तो मोक्ष चाहते हो तो खूब सोते रहो,नींद में मोक्ष नहीं होता इसलिए उसमें तमोगुण है और वह आवरण का कारण है।सिर्फ वेदांत के उपदेश से किसीको मोक्ष होगा नहीं,परंतु आत्मसाक्षात्कार के लिए समाधी

और ध्यान करो।पंचदशी में तत्वविवेक प्रकरण में कहा है कि अवस्थात्रय का विचार करने के बाद उसका प्रमाण लेकर आत्मा ब्रह्म है ऐसा महावाक्य से निश्चय हुआ।अब उसके साक्षात्कार के लिए पातंजलयोग का आधार लेकर समाधी करना,उसका नाम धर्म-मेध समाधी है।उससे वासनाजाल का मूलसहित नाश होगा और तू भविष्य में ब्रह्म होगा।

इसतरह नये वेदांती पातंजल योगदर्शन से मित्रता करते हैं। साधारण मनुष्य भी ऐसा कहते हैं । 'तत्वमसि'(वह तू है) ऐसा वाक्य सुना तो क्या तू ब्रह्म हो गया ! हमको कुछ भी नहीं करना ! ऐसा कैसे चलेगा ! अतः मुझे बतलाइये समाधी कैसे करे ! ध्यान कैसे करे यह बताईये। ऐसी विचारपद्धति मनुष्य को घोर जंगल में ले जाती है। और तुरीय का सच्चा अनुभव नहीं मिलता,अतः ऐसी विचार पद्धति झूठी है।उसमें परिणामवाद आता है,विवर्तवाद या ब्रह्मवाद नहीं आता और मोक्ष का फल भविष्य में रहता है अतएव 'तत्वमसि' महावाक्य झूठा होता है।यदि भविष्य में मोक्ष मिलना हो तो 'तत्वम् भविष्यसि' ऐसा महावाक्य मिलता।

अब माण्डूक्य उपनिषद के अनुसार उस महावाक्य का विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि जाग्रत के सभी अनुभव सुषुप्ति में एकीभूत होते हैं।वहां सुषुप्ति का अनुभव स्पष्ट है।जिसका जैसा स्वभाव हो वह कभी छोड़ता नहीं है।जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है तो वह अग्नि को नहीं छोड़ती।यदि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा हो कि स्वप्न में अथवा जाग्रत में सप्रपंच होना तो सुषुप्ति में भी प्रपंच की प्रतीति हो और ऐसा स्वभाव आत्मा में हो तो ऐसा भी कह सकते हैं कि मैं जाग्रत और स्वप्न में ०||| भाग का जीव था और नींद में ०| भाग का हूँ। कोई धनवान व्यक्ति हो और अपने मित्रों आदि में खूब पैसे खर्च करता हो,फिर वह एकाएक कंगला हो जाये तो उसको अपने में कुछ कमी मालूम पड़े,ऐसे ही जाग्रत में और स्वप्न में जो प्रपंच आत्मा की विभूति थी वह सुषुप्ति अथवा नींद में चली जाय तो नींद में कुछ कमी खटकनी चाहिए।कुछ न्यून अथवा कमीपना लगना चाहिए; लेकिन किसीको नींद में ऐसा नहीं लगता कि मैं कम हो गया हूँ।कम हो जाता हो तो कोई नींद चाहेगा ही नहीं। जैसे मृत्यु किसीको पसंद नहीं है वैसे नींद भी किसीको अच्छी नहीं लगेगी लेकिन नींद आत्मा की सच्ची और स्वाभाविक दशा है। माण्डुक्य उपनिषद में आत्मा को निष्प्रपंच कहा है।(प्रपंचोपशम:)

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि नींद में आत्मा निष्प्रपंच हुआ और जाग्रत में थोड़ी देर सप्रपंच हुआ। वास्तवमें जाग्रत और स्वप्न में जहां जहां प्रपंच दिखता है वहां वहां प्रपंच है ही नहीं। सिर्फ आत्मा ही है क्योंकि आत्मा अपना स्वभाव नहीं छोड़ता कोई ऐसी रेखा बना सके कि आत्मा यहाँ से शुरू हुआ और यहाँ तक गया तो ऐसा समझमें आये कि इस रेखा से उसका प्रपंच शुरू हुआ और यहाँ उसका प्रपंच पूरा हुआ वैसा भी नहीं बनता।

अतः साक्षी पर निष्ठा रखनी चाहिए,उसे किसी प्रकार का बंधन नहीं है।उसे अनुभव-ज्ञान कहते हैं। मैं ब्रह्म हूँ ऐसे प्रत्यय के साथ इस अनुभव की गड़बड़ नहीं करनी है। साक्षी को साक्षी के रूप में रखो।उसको प्रत्यय में नहीं रखना चाहिए। श्वेताश्वेतर उपनिषद में कहते हैं कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' जो वैश्वानर है वह भी साक्षी चेतन है और अद्वितीय और तुरीय है। वह भी जाग्रत अवस्था रहित साक्षी चेतन है,स्वप्न का तेजस भी वैसा ही है और प्राज्ञ वैसा है उसमें तो संशय ही नहीं है।

सच्चा आत्मा वैश्वानर नहीं है,तेजस नहीं है और प्राज्ञ भी नहीं है।कोई कहेगा कि तो तुम्हारा आत्मा भी नहीं है।आत्मा शब्द-वाच्य नहीं है,अनात्मा सामने हो तो आत्मा कह सकते हैं किन्तु अनात्मा कोई वस्तु नहीं है,आत्मा किसी प्रत्यय का विषय नहीं है,तो फिर आत्मा को कैसे जाने ! आत्मा शब्द-वाच्य रहित आत्मा है,तो जानना क्या ?

माण्डूक्य में 'नान्त:प्रज्ञ' आदि श्रुति से बताया है कि "मैं वैश्वानर नहीं हूँ,तेजस नहीं हूँ,आदि कुछ नहीं तो है क्या ? जबतक यह बात नहीं समझमें आयेगी तभीतक कुछ अभ्यास और आवृत्ति करने की इच्छा रहा करेगी।

कुछ लोग मानते हैं कि अपरोक्ष ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं। साधक और सिद्ध। शंकरानंदी गीता में (श्लोक ३-१७) कहा हुआ है कि ब्रह्मवित सदा आत्मा में ही रहता है,कदापि अनात्मा में नहीं रहता,फिर भी अपरोक्ष ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं।१. सिद्ध २. साधक

। उनमें सिद्ध के लिए लोकसंग्रह के लिए भी कर्म की जरूरत नहीं है क्योंकि उसको सब ब्रह्मरूप लगता है,उसको कोई बंधा हुआ नहीं लगता।साधक को समाधी करने की जरूरत है किन्तु अन्य कोई लौकिक क्रिया या वैदिक क्रिया की जरुरत नहीं है।ऐसा सिद्धांत मानने से भी आत्मा भविष्य में जायेगा। ऐसा प्रश्न शंकरानंदी गीता में १८ वे अध्याय के ५० वे श्लोक में आती है,वहां पूर्वपक्षी कहते हैं कि ज्ञानी के लिए कोई कर्तव्य नहीं है,क्योंकि ज्ञान वस्तुतंत्र है,पुरुषतंत्र नहीं है,तो भी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए प्रमाण ठीक करने की अपेक्षा रखता है।जैसे चंद्र शुद्ध है उसको देखने के लिए शुद्ध आँख की जरूरत पड़ती है,वैसे अनादि अविद्या के कर्मरूप में वासना रही हुई है और जिनका वह ज्ञान तमोगुण से दूषित हुआ हो उनको आत्मतत्व स्पष्ट नहीं दिखता।उनके लिए लंबे समय तक ध्यान और समाधी की जरूरत है,यानी सजातीय प्रत्यय रखना और विजातीय प्रत्यय का त्याग करना चाहिए।आहार शुद्धि से सत्व शुद्धि होती है और सत्व शुद्धि से नित्य स्मरण रहता है और ऐसे अभ्यास का परिपाक होनेपर कैवल्य पद मिलेगा।घट को जानने के बाद आवृत्ति की जरूरत नहीं रहती,राजा को सिंहासन पर बैठने के बाद 'मैं राजा हूँ ऐसी आवृत्ति रखने की जरूरत नहीं है,लेकिन आत्मज्ञान के परिपाक के लिए निदिध्यासन रूप समाधी की जरूरत रहती है क्योंकि ज्ञेय वस्तु अति सूक्ष्म है।जल के ऊपर जैसे काई आ जाती है वैसे आत्मा के उपर आवरण आ जाता है। अतएव ब्रह्मज्ञानी को विपरीत प्रत्यय दूर करने के लिए और आत्मज्ञान की दृढ़ता के लिए नित्य समाधी करने की जरूरत है। श्रुति भी कहती है कि 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः' यहां प्रज्ञा का अर्थ समाधी करना चाहिए। 'आसुप्तेरामृते: कालं नायेद्वेदांत चिंतया' अतः वेदांत विचार नित्य करना चाहिए। जब ज्ञान सिद्ध हो जाय तभी आवृत्ति छोड़नी चाहिए। इस विषय में श्री शंकराचार्य कहते हैं कि अविद्या की निवृत्ति के लिए ज्ञानाभ्यास की जरूरत है क्योंकि आत्मा तो प्राप्त ही है,अतः आत्मा के लिए किसी कर्तव्य की जरूरत नहीं है। अपने अद्वितीय तुरीय स्वरुप में अवस्थित होना उसी का नाम ज्ञान-निष्ठा है।इसप्रकार ज्ञानी पुरुषों की विचार पद्धति में थोडा सा बदलाव दिखता है। उसमें श्री शंकराचार्य का मत अधिक अच्छा है।

अतः साक्षी को साक्षी के रूप में रखना,प्रत्यय के साथ उसकी गड़बड़ नहीं करनी चाहिए। आत्मा में नाम अथवा नामी कोई नहीं है,तो फिर सभी निषेध वाक्यों का हेतु क्या ? उपनिषद के सभी शब्द अनुभव में ले जाने की युक्ति बताते हैं माण्डूक्य में जहां '**नान्त: प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञ**' कहा है वहां निषेध से कौन सा अनुभव समझना ! निषेध के कुछ प्रकार इस तरह के मिलते हैं। जैसे कि लक्ष्मण राम नहीं है वहां न कार भिन्नता बताता है ऐसे ही उपरोक्त श्रुति में अंतः प्रज्ञं: और बहिष्प्रज्ञं का भेद नहीं है।उपनिषद की भाषा में न भेद नहीं बताता, ऐसा नहीं बताने में प्रतियोगी की भी जरूरत नहीं है।जैसे कि यह गरम नहीं है।उसका अर्थ कि यह ठंडा है। ऐसा व्यवहारिक अर्थ हो लेकिन उपनिषद की रीत से उसमें अनुयोगी अथवा प्रतियोगी के जैसा 'न' का अर्थ नहीं है।जाग्रत स्वप्न नहीं है ऐसा कहकर इन दोनों के बीच भेद नहीं बनाना है। 'न' के निम्नलिखित तीन अर्थ नहीं करने चाहिए।

१. उसमें भिन्नता का दिखावा नहीं है।

२. अनुयोगी या प्रतियोगी पना नहीं है।

३. अभाव नहीं समझना चाहिए;क्योंकि 'न' भी आत्मरूप है।

आत्मा अप्रमेय होने से शब्द से उसका निर्देश नहीं हो सकता,अतः उसका उपदेश नहीं हो सकता और उसका चिंतन भी नहीं हो सकता,क्योंकि सभी प्रमाणों से अतीत है।तो फिर तुरीय समझने के लिए माण्डूक्य उपनिषद में नान्तः प्रज्ञ: न का प्रयोग क्यों किया है यह कहना चाहिए।जो 'अंतःप्रज्ञ' और 'बहिष्प्रज्ञ' का अर्थ है वही 'न' का है।उसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा में विकल्प नहीं है अर्थात अंतः प्रज्ञं पने का विकल्प नहीं है और बहिष्प्रज्ञं पने का भी विकल्प नहीं है और ऐसा विकल्प नहीं है ऐसा विकल्प भी नहीं है,अतः अत्मन्येव,आत्मानं पश्येत आत्मा से आत्मा को जानना,सजातीय से सजातीय को जानना ,विजातीय से नहीं जाना जायेगा। वास्तविक वस्तुस्थिति ऐसी है कि आत्मा किसी अवस्था की हद में नहीं आता,उसको समाधी की हद में बांध देना युक्त नहीं है।

आवृत्ति की हद में उसे बंधना भी युक्त नहीं है। तुरीय अवस्था नहीं है,लेकिन आत्मा ही है।तुरियपना यानी तुरीय जाति भी मायावी है,आत्मा में वह नहीं है।माण्डूक्य उपनिषद की शुरुआत में जहाँ श्री शंकराचार्य मंगलाचरण करते हैं वहां कहा है कि 'माया संख्या तुरीयं' है अर्थात अजन्मा ब्रह्म माया से तुरीय चतुर्थ संख्या वाले कहलाते हैं।

प्रकरण-७

-----तुरीय अथवा अस्पर्शयोग----

माण्डूक्य उपनिषद में दिया हुआ ब्रह्मवाद अस्पर्शयोग के द्वारा समझमें आ सकता है।अस्पर्शयोग समझने के लिए निम्न चार बातें पहले समझना जरुरी है।

१. आत्मा एक है कि अनेक ?

२. आत्मा का संग हो वैसी कोई दूसरी वस्तु है कि नहीं ?

३. जीव का जन्म कब होता है ?

४. जगत का जन्म कब होता है ?

अंतिम दो विषय पर विचार करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि जो जीव जन्मता है उसको जन्म के समय मालूम नहीं है कि स्वयं जन्मा है और जगत क्या है उसका भी उस समय पता नहीं है।बाद में वह देह के अभिमान से देह के जन्म को अपना जन्म मानता है और देह से बाहर जो दिखता है उसको जगत मानता है।अतः सच्चा प्रश्न विचार करने योग्य है कि जीव को अपने जन्म का ज्ञान और जगत का ज्ञान कब होता है और कैसे होता है !

श्रीमद् भागवत कहा है कि :-

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्व भावेन भूरिद ।

विषय स्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्न मनोरथः ॥११.२२.३१॥

अर्थः-देहादि विषयों का अहंकार के द्वारा पूर्णतः स्वीकार कर लेना यही जीव का जन्म है,वास्तव में जीव के कोई जन्म मृत्यु नहीं होते,ऐसे जन्म आदि स्वप्न और मनोरथ के सदृश्य मिथ्या है।

संक्षेपमें, स्वप्न में और मनोरथ में जैसे जीव अपने पूर्व स्वरुप को भूल जाता है और अपने को उस अवस्था के अनुसार (अपूर्व) मान लेता है।वैसे जाग्रत में भी जीव अपना ब्रह्मस्वरूप भूल जाता है और अपने को उस(जाग्रत) अवस्था के अनुसार (अपूर्व) मान लेता है।

अतः जैसे बाप-बेटे का जन्म एकसाथ होता है,देरानी-जेठानी और सास-बहु का जन्म एकसाथ होता है वैसे जीव और जगत एकसाथ जन्मते हैं।इसे जर्मन की जेस्टाल्ट साइकोलोजी में Configuration कहते हैं और श्री शंकराचार्य के अध्यास भाष्य में युष्मत-अस्मत् प्रत्यय कहते हैं।श्रीमद् भागवत के एकादश स्कंध के १३ वे अध्याय में हंसगीता में सनकादि ब्रह्माजी से पूछते हैं कि :- चित्त स्वभाव से गुणों में (विषयों में) जाता है और गुण(वासना रूपी) चित्त में प्रवेश करते हैं तो यह संसारसागर में मुक्ति की इच्छावाले

को इन दोनों को अलग कैसे करने(११-१३-१७) ? उससमय हंस भगवान प्रकट होते हैं और उत्तर देते हैं कि :- जीवस्य देह उभयं...मद्रुपे उभयं त्यजेत् अर्थात् दोनों जीव की उपाधि है और अतएव मेरे स्वरुप में रहकर दोनों का त्याग करना।(११-१३-२६)

यहाँ ऐसा समझना है कि जीव और जगत(स्वप्न की नाई) जाग्रत में भी उपाधि है,दोनों एकसाथ आते हैं और ज्ञान होनेपर दोनों एकसाथ दूर होते हैं क्यों कि आत्मा को उनका स्पर्श नहीं होता।

अतः मनुष्य जो कुछ देखता है वह अपनी माया की अवस्था ही देखता है।

A direct examination of exprience dose not disclose elements at all,minute local things,which nobody ever see.The Concept of elements is objectionable because is blinds us to the situation as it actually exists.

यानी मनुष्य को कोई वस्तु नहीं दिखती लेकिन सिर्फ अपनी माया दिखती है,जैसा स्वप्न में बनता है वैसा जाग्रत में बनता है। इस माया का आधार देखनेवाले के काल की गतिपर है। मनुष्य की आँख एक सेकण्ड में १६ चित्र देख सकती है।उस गति में बदलाव आ जाय तो मनुष्य दूसरे मनुष्यों को अथवा जगत को नहीं देख सकेगा ।जहां अच्छा संगीत चल रहा हो वहां कल के ऊपर अथवा तार के ऊपर ऊँगली घूमती है उससे रूप बनता है और बीच में जो अवकाश का समय है वह आधार बनता है,दोनों मिलकर एक नई दशा उत्पन्न करते हैं।उसमें सुननेवाले की दशा मुख्य कार्य करती है,अतः वह स्वयं को देखता है और स्वयं को सुनता है। वस्तु के रूप जैसे सिनेमा में दिखते हैं वैसे काल के रूप संगीत में मालूम पड़ते हैं। उसको आलाप और प्रलाप कहते हैं। अवस्था का रूप और काल का रूप बराबर हैं।यदि जाग्रत की दृष्टि का काल बदले तो जाग्रत अवस्था रहेगी नहीं। स्वप्न की दृष्टि का काल बदले तो स्वप्न नहीं रहेगा,अतएव अवस्था के रूप का संबंध काल के साथ है,किन्तु आत्मा के साथ संबंध नहीं है क्योंकि आत्मा काल से अतीत है।

काल का रूप ठीक से समझमें आये तो पलभर में तुरीय का अनुभव मिल सकता है। उसको समाझने के लिए कुछ निम्नलिखित दृष्टांत दिए जाते हैं।

१. गायन सुननेवाला श्रोता गानेवाले के अंदर रही हुई समग्रता (उसके जैसा प्रमाण धारण करके) प्राप्त कर सकता है और उसका स्वाद थोडे से स्वर-समूह के द्वारा भी ले सकता है। कला सर्जन की मर्यादा से असीम(ब्रह्म) को प्रकट करने के साधन रूप होती है,बंधनरूप नहीं होती।

(२) कोई डॉक्टर जब मरीज के स्वास्थ्य की जाँच करता है तभी ह्रदय की चिकित्सा उसकी थोड़ी सी धड़कने सुनकर करता है।उस धड्कन को समग्र जीवन-शक्ति के प्रतिक के रुप में डॉक्टर समझता है और ऐसी समझ में डॉक्टर भी अपना प्रमाण उसके साथ मिलाता है।अतः थोड़े स्पंदन से समग्र का यथार्थ ख्याल वह बना सकता है।

३. बीज में से वृक्ष होता है तभी बीज की सत्ता में क्षणान्तर नहीं होता,अतएव कार्य-कारण भाव नहीं बनता।

४. जहां '**सोऽयं देवदत्तः**' अथात् वह यही देवदत है, वहां धर्मी पूर्ण रूप से समझमें आता है,ऐसे ही जैसा ब्रह्म जगत की उत्पत्ति से पहले था वैसा ही अभी है और वह तुरीय है।

५. खिचड़ी का एक दाना पक गया हो तो उसकी जाँच से संपूर्ण खिचड़ी पक जाने का माप ले सकते हैं वैसे एक स्थानपर ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्मदर्शन हो तो सर्वत्र ब्रह्म है ऐसा मान सकते हैं।

६.   आम की ऋतु में आम के पेड़ पर से एक साख (पकाहुआ आम) गिरे तो संपुर्ण आम पक गया वैसा अनुभव होता है।वैसे ही जब साक्षी का अनुभव प्राप्त हो तभी ब्रह्म का अनुभव तुरंत होता है।माण्डूक्य उपनिषद पर के श्री शंकराचार्य के भाष्यमें अथवा गौड़पदाचार्य की टिका में आत्मा एक है कि अनेक उसका विचार नहीं किया है,उसमे मुख्यतः देखनेवाले की अवस्था का विचार है।उनके बाद के लेखकों ने एक जीववाद अथवा अनेक जीववाद पर बहुत वितंडावाद किया है। आत्मा कितने हैं यह निश्चय करनेमें शंकराचार्य को या गौड़पादाचार्य को रूचि नहीं है। सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से मैं जैसे एक आत्मा हूँ वैसे दूसरे भी सामने दिखते हैं। ब्रह्मसूत्र के अधिकरण में कहीं कहीं ऐसा प्रश्न लिया है कि यहां जीव विवक्षित है और सिद्धांत में परमात्मा विवक्षित है ऐसा कहते हैं,ज्ञान के विचार के लिए एक जीव हो या अनेक जीव हो उस विषयपर चर्चा की जरूरत नहीं है क्योंकि जीव स्वयं सच्चा नहीं है(अर्थात् जीवत्व सच्चा नहीं है) वहां उसका विचार क्या करना !

उपासना की दृष्टि से जीव का विचार बन सकता है।उपासना वाक्य में तो ऐसे विचार हो सकते हैं कि मुझे जीव का ध्यान करना चाहिए या परमात्मा का ! ऐसी शंका उपासना के प्रकरण में बन सकती है।उपासना में तो उपास्य उपासक का भेद होने से,अविद्या भी होने से ऐसे प्रश्न बन सकते हैं।उपासक तो उपास्य से भिन्न रह सकता है।उसमें उपासक तो जीव है और उपास्य जीव है कि परमात्मा ऐसी शंका ब्रह्मसूत्र में ली है।उपासक जीव से अलग दूसरा कोई जीव नहीं हो तो ऐसा प्रश्न ही नहीं बन सकता।

ब्रह्मसूत्र में एक अधिकरण में ऐसा है कि वहां एक ऐसा प्रश्न लिया है कि जो जीव सोता है वही जगता है कि नहीं ?

(यानी वही जगता है कि दूसरा ?)

पूर्वपक्ष कहता है कि नींद में तो अनेक जीव है नहीं।सभी एकत्र हो गए हैं,उसमें से कौनसा जीव जगता है ? पानी के सभी पात्रों का पानी एकत्र करने के बाद उन भिन्न भिन्न पात्रों का पानी अलग कैसे हो सकता है ? सिद्धान्ती * (कहता है कि) जो सोता है वही जगता है । उपाधि उसीकी चालू रहती है।आज्ञानी की दृष्टि से उपाधि निवृत्त नहीं होती।श्रुति में तो कहा है कि "एकीभूत" यानी एकीभूत होता है,लेकिन अज्ञानी की दृष्टि से उपाधि रहती है,इसलिए अलग जग सकते है।अज्ञानी मनुष्य ऐसा मानता है कि "मैं खाटपर सोया था और अभी जगा।" उस बातपर उनको शंका नहीं रहती। ऐसा नहीं समझना है कि शंकराचार्य और गौड़पादाचार्य अनेक जीव मानते हैं। उनका मत तो ऐसा है कि ब्रह्म में जीवत्व ही कल्पित है। महाकाश में जैसे घटाकाश होता है वैसे ब्रह्म में से जीव होता है।

जैसे एक महाकाश में से अनेक घटाकाश हुए दिखते हैं वैसे ब्रह्म में से अनेक जीव हुए हो ऐसा मालूम पड़ता है,उपर कहे अनुसार सभी संघात आत्मा की माया से उत्पन्न होते हैं जैसे स्वप्न के शरीर स्वप्न की माया से होता है वैसे ही जाग्रत के शरीर जाग्रत की माया से मालूम पड़ते हैं। उसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा कभी जीव हुआ ही नहीं । माण्डूक्य उपनिषद की कारिका में कहा हुआ है कि-

न कश्चिज्जायतेजीव: संभवोऽस्य न विद्यते।

एतत्तदुतमं सत्यं यत्र किश्चिन्न जायते॥ (३-४८)

अर्थः- कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है।अजन्मा ब्रह्म में किसी की उत्पत्ति नहीं होती,यही सर्वोत्तम सत्य है।

जहाँ जीवत्व झूठा है वहां जीव एक है कि अनेक ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता।अतः जीव भगवान का अंश है या आत्मा का आभास है कि प्रतिबिंब है या अवच्छेद ऐसे प्रश्न ही नहीं बनते। जीवत्व ही अध्यस्त है।वेदांत का तो सत्य के साथ संबंध है,ज्ञान के साथ संबंध है

'ज्ञानाद् एव तु कैवल्यं' कोई जीव मोक्ष प्राप्त करता है ऐसा सूत्र नहीं है,लेकिन ब्रह्मवित मोक्ष प्राप्त करता है। यानी जीव का ज्ञान तो जाना ही चाहिए।अतः जीव की जिज्ञासा व्यर्थ है,ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। ना'न्य: पंथा विद्यतेऽयनाय' मोक्ष के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है,दृश्य अथवा प्रमेय का कोई भी हिस्सा आत्मा को लागु नहीं होता।प्रपंच का चिंतन हो सकता है और उसका उपदेश भी हो सकता है लेकिन जो ब्रह्मतत्व है उसका चिंतन अथवा उपदेश नहीं हो सकता।अतः ब्रह्मतत्व के लिए कोई स्पष्ट लक्षण देकर समझाया नहीं जा सकता। कोई शब्द वहां नहीं पहुँच सकता। कोई विचार वहां नहीं पहुँच सकता। ब्रह्म मन और वचन से अतीत तत्व है एवम् मन और वचन का भी वही तत्व है।

आत्मा सदा एकरूप है,और निराकार है। यदि आत्मा आकार वाला हो तो उसमें थोडा भी परिणाम अथवा विकार देखने में आये। जन्म आदि जो विकार दिखते हैं वे साकार अथवा कुछ विशेष हो उसमें होते हैं। आत्मा निरवयय है और उसमें से दूसरा कुछ भी नहीं निकलता,इसलिए वह समरूप है,उसका अधिक स्पष्टीकरण निम्नलिखित माण्डूक्य की कारिका में मिल सकेगा :-

अस्पर्षयोगो वै नाम दुर्दर्श : सर्व योगिभिः।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भय दर्शनः॥

अर्थः- सभी प्रकार के स्पर्श से रहित यह अस्पर्शयोग सचमुच योगियों को मुश्किल से समझमें आता है।ऐसे अभयपद में भय देखनेवाले योगीजन इसमें भय मानते हैं।

इस विषय पर बौद्धधर्म में अधिक विचार मिलता है। वे भी उसपर विचार करते हैं। 'दृश्याभावे तद् अगृहणान्' यानी आत्मा दृश्य नहीं है,उसका ग्रहण नहीं है,ऐसे शब्द बुद्ध के संप्रदाय में भी मिलते हैं। बौद्धधर्म के विज्ञानवादी कहते हैं कि हमारे सामने कोई वस्तु नहीं है,लेकिन सिर्फ ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है। वह स्वयं दृष्टा है और स्वयं ही दृश्य को उत्पन्न करके देखता है। उसका अर्थ ऐसा है कि ग्राह्य ग्राहक रूप से विज्ञान स्वयं ही होता है। विज्ञानवाद में योगाचार्य समाधी का तत्व ऐसा हैं कि समाधी में विज्ञान को कोई दूसरे तत्व का संबंध नहीं होता उसको अस्पर्शयोग कहते हैं। उनके मत में समाधी का अर्थ ऐसा है कि ग्राह्य का अभाव होने के साथ ग्राहक का भी अभाव होता है और उससे अस्पर्शयोग सिद्ध होता है।

इस बात का स्पष्ट अर्थ श्री गौड़पादाचार्य ने निम्नलिखित कारिका में किया हुआ है :

आत्मसत्यनुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।

अमनस्तां तदा याति ग्राहयाभावे तदग्रहम्॥

अर्थः-जिस समय आत्मा सत्य की उपलब्धि होती है और मन संकल्प नहीं करता,उस समय वह अमनीभाव को प्राप्त होता है। उस अवस्था में ग्राह्य का अभाव होने से वह ग्रहण करने के विकल्प से रहित हो जाता है। (३-३२)

आत्मा स्वयं ही सत्य है ऐसा बोध होता है उसीको अस्पर्शयोग कहते हैं। ग्राह्य और ग्राहक को निकालना यह अस्पर्शयोग नहीं है।

गौड़पादाचार्य ने "अस्पर्शयोग" शब्द का प्रयोग क्यों किया यह विचारणीय है। सिर्फ आत्मा ही केवल है ऐसा दर्शन ही समाधी है,और वही अस्पर्शयोग है। अस्पर्शयोग वेदांती की अन्य कोई भाषा में अथवा ग्रन्थ में नहीं मिलता,फिर भी गौड़पादाचार्य ने उसका उपयोग किया है,उसका आशय बुद्ध संप्रदाय की समाधी से वेदांत का दर्शन किसप्रकार अलग पड़ता है यह बताने का है।गौड़पादाचार्य कहते हैं कि बौद्ध संप्रदाय वाले जैसे अस्पर्शयोग का वर्णन करते हैं वह अर्थ सच्चा नहीं है क्योंकि उनका अस्पर्शयोग

नित्य नहीं है।उनको सिर्फ समाधी के समय अस्पर्शयोग होता है,और व्युत्थान के समय स्पर्शयोग होता है। यद्यपि विज्ञान का स्वभाव ही ऐसा हो कि थोडा समय भी विज्ञान स्पर्श में आता हो तो अपना स्वभाव छोड़े नहीं,विज्ञान रूप में रहने के लिए भी उसको कुछ दृश्य चाहिए।कुछ कहते हैं कि समाधी में रहा हुआ विज्ञान दृश्य का लय कर देता है और यधपि ऐसा हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि विज्ञान विज्ञान नहीं रहता। बौद्धसंप्रदाय में विज्ञान अमुक प्रकार की क्रिया बताता है। कुछ क्षणिक कुछ उत्पन्न करे उसका नाम विज्ञान। वैज्ञानिक बौद्धधर्म में कुछ क्रिया की हमेशा जरूरत पडती है,उसको कर्म के बिना नहीं चलता,अतः यदि वे ऐसा मानें कि ग्राह्य और ग्राहक रहित विज्ञान समाधी में है तो ऐसी बात सच्ची नहीं है। जहां जहां स्वामी जाये वहां वहां उसकी पत्नी को साथ में रखनी ही चाहिए,ऐसे ही विज्ञान ऐसा गृहस्थ है कि उसको कर्मरूपी पत्नी साथ में ही चाहिए,फिर चाहे वह समाधी में हो अथवा व्युत्थान में हो।

जैन धर्म में भी ऐसा माना हुआ है कि आत्मा अपने स्वरुप में परिणाम कर सकता है,किन्तु वस्तु में यानी बाहर की वस्तु का वह कुछ भी नहीं करता,यह वेदांत में सजातीय प्रवाह जैसा है, लेकिन वेदांत में वह वृत्ति का धर्म है,आत्मा का धर्म नहीं है।

वेदांत की दृष्टि से देखनेपर तो विज्ञान और विज्ञान का विषय रज्जु सर्प के जैसा है यानी समाधी के समय एकीभूत हो जाता है।उसमें कुछ क्रिया नहीं है,लेकिन यह बात विज्ञानवादी स्विकार नहीं करते।अतः बौद्धधर्म में जिस तरह से विज्ञान का निर्णय किया हुआ है वह झूठा है।ग्राह्य ग्राहक का अभाव समाधी के समय कौन देखता है ? बौद्धधर्म के अनुसार विज्ञान देखता है और वेदांत के अनुसार साक्षी देखता है।वेदांत में भी पंचदशीकार जैसे कुछ मत वाले उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

समाधी यानी आत्मा ही।अस्पर्शयोग योग अर्थात् नित्य निवृत्त स्पर्शवाला,अद्वितीय अजन्मा आत्मा। वेदांतमें जिसे कभी भी किसीका स्पर्श होता ही नहीं ऐसे आत्मा का भान होना ही अस्पर्शयोग है,और कभी स्पर्श होता है ऐसा विज्ञानवादियों का मत है।

अस्पर्शयोग अर्थात् स्पर्श से विलक्षण। सर्प जैसे रज्जु का ज्ञान होनेपर अ-सर्प हो जाता है,वैसे यह स्पर्श भी अस्पर्श हो जाता है। ब्रह्म में कोई दो चीज एकत्र नहीं करनी है। वेदांत में योग का अर्थ एकत्र करना नहीं है किन्तु विकल्प का वियोग ही योग है अतः दूसरे योगी ऐसे वेदांत से डरते हैं।

योगियों को दूसरे से जुड़ना अच्छा लगता है और कुछ करना पसंद है, वेदांत में तो इन दोनों में से एक भी नहीं है,अतएव योगीजन अस्पर्शयोग से डरते हैं।गौड़पादाचार्य कहते हैं कि 'नोपचार कथंचन' यानी कुछ करना नहीं है,सिर्फ अप्राप्त की प्राप्ति है।यहां कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि "यह सब सुनने के बाद मुझे क्या करना !" इसका उत्तर यह है कि इतने वर्षों तक तो कुछ कुछ किया और उसका फल तो कुछ मिला नहीं,फिर भी अभी कुछ करने की आकांक्षा रहती है। अब यदि कुछ करना है ऐसा लगता है तो वेदांत के अनुसार सिर्फ अध्यास दूर करना,अथवा मेरा कोई कर्तव्य है ऐसा अभिप्राय दूर करना,यह बात उत्तम अधिकारी के लिए है।

मध्यम अधिकारी ऐसा मानते हैं कि मेरा मन है,अंतःकरण है और उसका परिणाम भी दिखता है,आत्मा उससे भिन्न है,उनके मन का निग्रह करना यह साधन है।

गौड़पदाचार्य ने जहां मनो-निग्रह शब्द का प्रयोग किया है वहां अनेको टीकाकारों को कठिनाई आती है। कुछ ऐसा मानते हैं कि जैसे कोई पशु को पकड़ते हैं,चोर को पकड़ते हैं वैसे मन को वश करना चाहिए,वैसा दमन करना चाहिए,लेकिन गौड़पादाचार्य का अभिप्राय ऐसा नहीं है।

दुःखं सर्व मनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।

अजं सर्व मनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति।। (३:-४३)

अर्थः- संपूर्ण दुःखरूप है ऐसा निरंतर स्मरण करते हुए चित्त को कामजन्य भोगो से हटाना और निरंतर सभी वस्तु का अजन्मा ब्रह्म स्वरुप का स्मरण करके किसी पदार्थ को नहीं देखना। ऐसा मनोनिग्रह का अर्थ है। प्रथम मनको बाहर जाने से अटकाकर अंतर्मुख करना और फिर अजन्मा ब्रह्म का विचार करना। बारंबार मनको अंदर मोड़ने के बाद भी बाहर जाने की आदत बन गई है और बाहर कुछ लेने जैसा है ऐसा लगता है इसलिए वह आदत छुटती नहीं है। एक मनुष्य के घर में अत्यंत झगड़ालु स्त्री थी। वह हररोज उस आदमी को धोके* मारे और अपमान करे।यह देखकर उसके मित्र ने उससे पूछा तू इतना सहन क्यों करता है ? उसने कहा कि गाली मुझे संगीत जैसी लगती है और धोके मुझे तबले के ताल जैसे लगते है,संसार कईयों को पीड़ा और दुःख देता है फिर भी वे उसको सुख मानते हैं,यानी दुःख में सुखबुद्धि करते हैं। ठीक से विचार करोगे तो समझमें आयेगा कि संसारमें शरुआत में,मध्य में और अंत में सिर्फ दुःख ही है। भोग के समय भी दुःख है,क्योंकि उससे देह का अभिमान बढ़ता है।संसार का सुख लेने की रीत में से ही दुःख निकलता है।दुःख लोगों को बहिर्मुखता से अंतर्मुखता की ओर ले जाने के लिए भगवान की तरफ से मिला हुआ बडे से बड़ा उपाय है,अतः प्रथम मनोनिग्रह करने का उपाय यह है कि दुःख का विचार करे गीता में भी कहा है कि 'जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनं' अर्थात् जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और व्याधि के दुःख का विचार करना। संक्षेप में, अभ्यास से और वैराग्य से मनोनिग्रह हो सकता है।

आत्मा एक ही सत्य है उसे किसीका संबंध नहीं होता। ऐसा विचार करनेपर इन्द्रियां मन में लय होती हैं और मन आत्मा में लय होता है उसे कठोपनिषद में आत्मयोग कहते हैं उसका क्रम निम्नलिखित श्लोक में बतलाया हुआ है :-

यच्छे द्वाऽ मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि |

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छे त्तद्यज्छेच्छान्त आत्मनि || १-३-१३

अर्थः-विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियों का उपसंहार करे,उसका प्रकाश स्वरुप बुद्धि में लय करे,बुद्धि को महतत्व में लीन करे और महत्ततत्व को शांत आत्मा में नियुक्त करे।

वेदांत की समाधी ऐसी है कि तत्व का विचार करना और कार्य का कारण में लय करना।आत्मा से अलग कुछ है ही नहीं और आत्मा से अलग कुछ उत्पन्न होता नहीं है,ऐसे ज्ञान में रहना।

गाड़ीवाले का घोडा खूब उछलकूद करता हो और गाड़ीवाला उसकी बहुत पिटाई करे तो उससे वह आगे नहीं बढ़ता अपितु खड़ा ही रहता है वैसे घोड़े की तरह मनको मारकर मूढ़ की नाईं खड़ा रखना यह सच्चा रास्ता नहीं है।

निम्नलिखित प्रसंग उत्पन्न हुए हो तभी ध्यान नहीं करना चाहिए।

१. क्रोध के समय।

२. भूख लगी हो तभी।

३. बहुत गरमी के समय।

उसका कारण यह है कि उस समय या तो नींद आती है अथवा विक्षेप होता है,किन्तु समरूप ब्रह्म में स्थिति नहीं होती।

युवा लड़के विघ्नों को पार करने का खेल खेलते हैं सभी विघ्नों को पार करने के बाद भी इन सभी विघ्नों को पार करने का अभिमान तो रहता है।यह अंतिम विघ्न है इसतरह अनेक विघ्नों को पार करके समाधी तक पहुंचे हुए मनुष्य में यदि सूक्ष्म अहंकार

रहे तो भी बड़े में बड़ा विघ्न है। ब्रह्म प्राप्ति के समय तो कोई मुसीबत नहीं है,लेकिन उससे पहले ये सभी विघ्न आते हैं।उसका ख्याल रखना जरुरी है।समता प्राप्त होने के बाद मन को चलित नहीं करना चाहिए।

एकबार एक स्थानपर गुरु कुछ शिष्यों को उपनिषद का उपदेश दे रहे थे।कुछ दुरी पर रसोईघर में रसोया चुल्हेपर रखी हुई तुअर की दाल हिला रहा था। गुरु को मालूम था कि तुअर की दाल को हिलाने से पकती नहीं है,अतएव गुरू ने रसोये को कहा कि "उसको हिला मत,बाहर निकल जा,वह बराबर हो जायेगी।" इतना कहने के बाद गुरुने शिष्यों से कहा कि "मनको हिलाओ मत तुम बाहर निकल जाओ,वह ठीक हो जायेगा।" अर्थात मन को हिलाने से समता प्राप्त नहीं होगी। समता ब्रह्म का स्वरुप है, तुरीय है।

निदिध्यासन में भावना की अनुवृत्ति नहीं है,लेकिन वस्तु जैसी है वैसा परिशीलन- समझना उसका फल दृष्ट है।गीता में 'अमानित्व'आदि जो साधन बताये हैं वह ज्ञानी का स्वभाव है और मध्यम अधिकारी के लिए साधन हैं।उपासना का जो उपदेश दिया जाता है वह शिष्यों पर अनुकंपा करके दिया जाता है,और उसमें क्या करना यह बतलाया है।उसका अर्थ ऐसा है कि जो निधिध्यासन नहीं कर सकते उनके लिए सगुण भक्ति,जप,तीर्थाटन,सत्संग आदि साधन है।उससे भगवान का संबंध होनेपर, चित्तशुद्धि होकर निदिध्यासन की योग्यता प्राप्त होती है और अंत में आत्मा ही सत्य है ऐसा बोध उपजता है।

आत्मा अकर्ता और अभोक्ता होने से ज्ञानी के लिए तो 'नोपचार कथंचन' इस उपदेश के अनुसार कोई कर्तव्य नहीं है।उसके लिए कोई विधि या निषेध नहीं है।स्वेच्छाचार अर्थात् इच्छा के अधीन होकर रहना ऐसा ज्ञानी में नहीं होता।ज्ञानी की तो इच्छा अनिच्छा हो जाती है,मन अमन हो जाता है,फिर भी जो स्वेच्छाचारपूर्वक वर्ते वह ज्ञानी नहीं है।ऐसे लोग क्षेत्रधर्म को आत्म-धर्म मान लेते हैं।

तुरीय में वाच्यार्थ अवाच्यार्थ होता है और लक्ष्यार्थ स्वरूपार्थ होता है।गुरु का मौन व्याख्यान है और गुरु स्वरुप में स्थित रहते हैं।शिष्य भी मौन रहता है यानी वह भी स्वरुप में स्थित होता है।एक मनुष्य हँसता हो तो दूसरे को हंसने का मन होता है,एक रोता हो तो दूसरा रोने लगता है,ऐसे ही मौन हो तो दूसरे को मौन रहने का मन होता है। गुर मौन रखकर निष्ठा में रहे और फिर सिर्फ दृष्टि से शिष्य को निहारे इससे शिष्य को चाक्षुषदीक्षा के द्वारा अनुभव आता है।उसका नाम चाक्षुष-दीक्षा है।

कुछलोग कहते हैं कि ज्ञान होने के बाद जीवनमुक्ति के विलक्षण आनंद के लिए ध्यान करना,लेकिन उन्होंने समझना चाहिए कि ज्ञान से आनंद अलग नहीं है।ठीक ज्ञान होना यही आनंद है।ज्ञान होने के बाद आनंद के लिए ध्यान नहीं करना पड़ेगा। अकर्तृत्व और अभोकतृत्व का नाम है ज्ञान । जो अपने को अकर्ता मानता है वह साधन कैसे करेगा ! जो साधक है वह अज्ञानी है,क्योंकि उसमें कर्तुत्व बुद्धि है।ज्ञानी को प्रारब्ध के क्षय के लिए और वासना क्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए यह सांख्य की रीत है,वेदांत की नहीं है,सांख्य मानता है कि पुरुष अकर्ता है और प्रकृति कर्ता है इसलिए प्रकृति को करने दो लेकिन यह वेदांत का ज्ञान नहीं है। वेदांत की दृष्टि में कर्तव्य आत्मा और अनात्मा के अध्यास की निवृत्ति है,अध्यासिक कर्तृत्व आत्मा का धर्म नहीं है और मन का भी धर्म नहीं है। मन अचेतन है,उसमें कर्तापन नहीं होता। स्वयं प्रमाता होता है तभी प्रमेय होता है।ज्ञान हुआ कि प्रमाता गया। ज्ञान होने के बाद मन को या अंतःकरण को देखना मूर्खता है,अतः ज्ञान होने के बाद अंतःकरण का विक्षेप अथवा वासना कोई नहीं रहते नहीं।

प्रकरण -६

-------अजातवाद-------

माण्डूक्य उपनिषद की कारिका के तीसरे प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक आता है।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते |

एतत्तदुतमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते || ३-४८

अर्थः- कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता,क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है।अजन्मा ब्रह्म में किसीकी उत्पत्ति नहीं होती,यही सर्वोत्तम सत्य है।

आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य कोई जीव है नही ऐसा जो तीसरे प्रकरण में कहा उसका सार उपरोक्त आखरी श्लोक में है,अर्थात् जन्म की प्रतीति होती है लेकिन वास्तवमें सच्चा जन्म होता नहीं है।जैसे कि घटाकाश में आकाश के जन्म की प्रतीति होती है,परंतु वास्तवमें आकाश का जन्म नहीं होता,स्वप्न में भी जीव के जन्म का अभाव होता है परंतु वास्तवमें वहां जीव-जगत या अन्य किसी का जन्म नहीं होता।स्वप्न प्रातिभासिक होने से उसमें कोई अलग अलग वस्तु का विचार करने की जरूरत नहीं है।वह संपूर्ण अवस्था है,उसे संघात कहते हैं। अंग्रेजी में उसको configuration अथवा structure कहते हैं।अतः संपूर्ण स्वप्न का विचार करे तो वह प्रातिभासिक है और प्रातिभासिक वस्तु में अंश-अंशीभाव नहीं बनता। अज्ञानकाल में वह पूरी की पूरी दिखती है और ज्ञानकाल में पुरेपुरी दूर होती है।वह माया के द्वारा रचि जाती है,यानी आत्मा की माया कि जो अविद्या है अथवा अध्यास है उससे रची जाती है और वह अवस्था सच्ची नहीं है।जैसा स्वप्न की अवस्था के विषय में है वैसा जाग्रत अवस्था के विषयमें है।उसमें भी जीव सुबह में उठता है तभी किसी वस्तु को नहीं देखता अपितु अपनी संपूर्ण जाग्रत अवस्था को देखता है;उसको संघात configuration अथवा structure कहते हैं और वह प्रातिभासिक है।उसको दूर करने में जरा भी देर नहीं लगती क्योंकि उसका परमार्थ से जन्म नहीं है,उसका जन्म माया से है,जीव अपने को एक स्थानपर रहा हुआ मानकर देखे तो उसमें से इदंता यानी जगत निकलता है,लेकिन वास्तवमें विचार करनेपर दोनों साथ में दिखते हैं।उसको संघात कहते हैं।यह संघात जैसा स्वप्न में है वैसा जाग्रत में है।अतः माण्डूक्य उपनिषद में कहा हुआ है कि :-

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममाया विसर्जिताः|

अधिकये सर्वसाम्ये या नोपपत्ति ही विद्यते ||३-१०||

अर्थः- देह आदि समस्त संघात स्वप्न के सदृश्य आत्मा की माया से रचे हुए हैं,उसमें तिर्यक आदि देहों की अपेक्षा देवलोक उत्तम लगे तो भी तत्वदृष्टि से सभी की समानता है,क्योंकि उसके सद्भाव का कोई हेतु नहीं है।सुबह जगने के बाद सूर्य उदय होता हुआ दिखे उसका कोई हेतु नहीं है।वह वास्तवमें उदय नहीं होता।हम पृथ्वीपर से देखते हैं तभी उदय होता हो वैसा लगता है,लेकिन वास्तव में वह नहीं उगता,वैसे ही जाग्रत अवस्था अथवा जाग्रत का संघात भी प्रातिभासिक है,उसमें किसीका जन्म नहीं होता,संपूर्ण अवस्था प्रातिभासिक है,स्वप्न के समय,सुषुप्ति में और मनोरथ के समय जाग्रत का संघात भी शीघ्र चला जाता है।अतः वह अविद्याकृत है परमार्थ से नहीं है।अतः जन्म मृत्यु आभास मात्र है।यही बात निम्नलिखित तीन श्लोक में शुकदेवजीने राजा परीक्षित को समझायी है।

त्वं तु राजन्मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि |

न जातः प्रागभूतोऽध देहवत्त्वंन नङ्शसि ||१२-५-२||

अर्थः-हे राजा ! तुम "मैं मरूँगा" ऐसी पशुबुद्धि का त्याग करो,क्योंकि देह की भांति तुम पहले नहीं थे और अभी उत्पन्न हुए हो यह बात सच्ची नहीं है,अतः तुम्हारा नाश नहीं होगा।

न भविष्यति भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादि रूपवान |

बीजाङकुरवत् व्यतिरिक्तो यथानलः||

अर्थः- जिसप्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है वैसे तुम उत्पन्न होकर पुत्रपौत्रादि वाले नहीं हुए हो और होंगे नहीं क्योंकि (बीज और अंकुर की भाँति) देहादि उत्पन्न होते हैं,आत्मा उत्पन्न नहीं होता,तुम तो काष्ठ में व्याप्त अग्नि की भांति काष्ठ से अग्नि जैसे पृथक् है वैसे देहादि संघात से पृथक् हो।

स्वप्न यथा शिरच्छेदं पञ्चात्या धात्मनः स्वयं |

यस्मात् पश्यति देहस्य तत् आत्मा ह्यजोऽ :मरः||१२-७-८||

अर्थः- जैसे आत्मा स्वप्न में अपना मस्तक कटा हुआ देखता है,और मृत्यु आदि देखता है वैसे जाग्रत अवस्था में भी देह के मृत्यु आदि देखता है,परंतु वास्तवमें आत्मा अजर अमर है।

जाग्रतमें जो जीव हमारे साथ जो भी व्यवहार करता है वह भी स्वप्न की नाईं आभासमात्र है ; क्योंकि जो दिखता है वह संघात है,अवस्था है अथवा क्षेत्र है,उसको पूरा ही समझना चाहिए और पूरा समझेते हैं तो वह प्रातिभासिक हो जाता है।

माण्डूक्य उपनिषद में अद्वैत प्रकरण कहने का विशेष कारण यह है कि पहले कुछ वेदांती ऐसा कहते थे कि वेदांत उपासना परक है। उनको उत्तर देने के लिए कहा है कि वेदांत का ज्ञान वस्तुतंत्र है,उपासना तंत्र नहीं है।उपासना वाले कहते हैं कि जीव और जगत उत्पन्न होते हैं और जीव भगवान की भक्ति करके एक दिन भगवान में मिल जायेगा।यह सिद्धांत वेदांत में मान्य नहीं है।

और उपासना में भिन्न-भिन्न मार्ग है,उसमें कोई भेदवादी है,कोई अभेदवादी है और कोई भेदाभेदवादी है।प्रपंच विलयवाद वाले में भी कुछ ऐसे होते हैं कि स्वयं अद्वैत में मानते हुए भी उपासना करके प्रपंच का विलय करने में मानते होते हैं। अतएव उपरोक्त कारिका में कहा है कि जगत का वास्तवमें जन्म नहीं है जीव का भी वास्तवमें जन्म नहीं है।जहां जहां सृष्टि की श्रुति आती है वहां भी समझना है कि जीव ब्रह्म से अलग नहीं है और दोनों की एकता समझने के लिए ही ऐसी प्रवृत्ति है।

श्रुति दो प्रकार की है।एक को फल श्रुति कहते हैं,दूसरी को अफल श्रुति कहते हैं।जहां 'आनंद ब्राह्मणो विद्वान' कहा है वहां फल श्रुति है। जहां ऐसा कहा है कि 'तस्मात् आकाश संभूत:' वहां फल श्रुति नहीं है सिर्फ अभेद परक श्रुति है। जहां कहा है कि संभवोऽस्य न विद्यते' वहां युक्ति से भी जन्म सिद्ध नहीं होता ऐसा बतलाया है। अन्य कुछ मनुष्य कि जो श्रुति के प्रमाण से और युक्ति से जन्म सिद्ध करते हैं उनको उत्तर देने के लिए कहा है कि 'न कश्चित् जायते जीव' आदि।आत्मा का अजपना और अद्वैतपना माण्डूक्य के चारों प्रकरण में है।तीसरे प्रकरण की शुरुआत में ऐसी प्रतिज्ञा की है कि किसीका जन्म नहीं होता ऐसा तुमको कहता हूँ और वही उत्तम सत्य है।न किंश्चित जायते' यानी अणुमात्र भी जन्म नहीं है अथवा अणु का भी जन्म नहीं है।व्यवहारिक दृष्टि से अनेक जीव के जन्म दिखते हो तो भी वास्तव में किसीका जन्म नहीं है।

लोक व्यवहार में जिसको ज्ञान और कर्म कहते हैं उसे शास्त्रों में मृत्यु कहते हैं।उस अविद्यारूपी मृत्यु को तरकर विद्या से अमरत्व प्राप्त करना है।संसार में जो इन्द्रियों के भोग है उससे तो इन्द्रियों का तेज चला जाता है ऐसा नचिकेता यमराज को कहता है।

दवाई लेकर शरीर स्वस्थ किया और उससे शरीर की आयु बढ़ती है,लेकिन आयु बढ़ने से ज्ञान नहीं बढ़ता,उसमें दूसरे अंतराय तो रहते हैं।अतः लौकिक ज्ञान और कर्म से ऊपर उठकर शास्त्रीय ज्ञान और शास्त्रीय कर्म स्वीकारे हो तो अंततः अजातवाद तक पहुंच सकते है।आरोग्य के लिए दो उपाय हैं। बिमारी को अटकाने की दवाई और बीमारी का निवारण करने की दवाई ।शास्त्र भवरोग हो नहीं वैसी दवाई देते हैं। आज की शिक्षा बीमारी उत्पन्न करती है और फिर उसके निवारण की दवाई देती हैं।

जिसको सौ रूपये पगार मिलता हो उसकी दृष्टि में १० रूपये के पगार वाला गरीब है,ऐसे ही जिसका पगार १००० रूपये का हो उसकी दृष्टि में १०० रूपये के पगार वाला गरीब लगता है। उसीप्रकार अद्वैत की दृष्टि से ब्रह्मलोक भी अविद्या है,तो फिर एक छोटे देश का स्वराज्य अथवा छोटे प्रांत का स्वराज्य ये अविद्या है इसमें तो कहना ही क्या ?

स्वयं प्रमाता होता है उससमय प्रमेय बनता है लेकिन ज्ञान होनेपर प्रमातृत्व जाता है,अतएव प्रमेय भी रहता नहीं है।ज्ञान होने के बाद अंतःकरण को देखना मूर्खता है।अतः ज्ञान होने के बाद अंतःकरण है और उसमें विक्षेप रहता है और उसको दूर करने के लिए ध्यान आदि का अभ्यास करना मूर्खता है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है कि

'किमिच्छन्न कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्' ज्ञानी अशरीरी है,उसके लिए कर्तृत्व नहीं है,अतः कर्ता कैसे हो सकता है ! कौन किसके लिए कैसे काम करेगा अथवा क्रिया करेगा।स्वप्न में जो अभिभूत से अभिनिवेष होता है,वैसे जाग्रत में भी होता है।अतः माण्डूक्य की कारिका में कहा है कि :-

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।

यस्य भावं सबुद्ध्वैव निःसङ्गे विनिवर्तते ॥४-७९

अर्थ:- चित्त असत्य (द्वैत) के अभिनिवेश से उसके रूप जैसे विषयों में प्रवृत्त होता है एवम् जब द्वैत वस्तु के अभाव का बोध होता है तभी उससे निःसंग होकर वापस आता है।वास्तवमें जाग्रत का पूरा संघात यानी जीव जगत ब्रह्म में कल्पित है।जाग्रत में यदि ग्यारह इन्द्रियों का ठीक उपवास हो तो जीव ग्यारह से ऊपर उठेगा और ज्ञानी हो जाय।

भले ही जगत सच्चा जैसा दिखे लेकिन उसको पूरा विचार करके उड़ाना है।अमेरिका में जब स्वामी विवेकानंद भाषण देने गए थे तभी कोई उनकी स्तुति करते थे और कोई उनकी निंदा करते थे लेकिन उसकी असर उन पर नहीं पड रही थी।

अध्यास यानी सिर्फ गलती नहीं।गलती हो तो मनुष्य उसको सुधार लेगा ।अध्यास तो सिर्फ लौकिक व्यवहार है। उसमें वस्तुत्व का अवलंबन लेने की जरुरत है।स्वप्न में कोई क्रिया करके गलती सुधारना नहीं है,किन्तु वस्तुतत्व समझने की जरुरत है।ऐसी ही दशा जाग्रत के व्यवहार बाबत में भी है।अध्यास को परिणामवाद में ले जाने की जरूरत नहीं है,लेकिन विवर्तवाद से अध्यास समझने का प्रयास करना चाहिए।यह कार्य कठिन है।अतः वेदांत में श्री शंकराचार्य बाद के अनेक लेखक अध्यास को परिणामवाद में ले गए हैं।वे ऐसा मानते हैं कि ब्रह्म में कोई मूलाविद्या नामक अविद्या है।जब जगत दिखता तभी वह ब्रह्म का विवर्त है और अविद्या का परिणाम है।ज्ञान होने के बाद भी उस अविद्या का थोडा भाग यानी लेशाविद्या रहती है और वह आखिरमें अर्थात् विदेहमुक्ति के समय दूर होती है और उससमय सच्चा मोक्ष मिलता है,लेकिन यह प्रक्रिया सच्ची नहीं है।अविद्या को अथवा अध्यास को परिणामवाद में घसीटकर ले जाने की जरूरत नहीं है।श्री शंकराचार्य और उनके गुरु श्री गौड़पादाचार्य और श्री शंकराचार्य के शिष्य श्री सुरेश्वराचार्य- तीनों ने मूलाविद्या मानी हुई नहीं है और परिणामवाद नहीं माना है।

ज्ञान से जो दूर होता है वह ज्ञान का अभाव है,संशयज्ञान है अथवा मिथ्याज्ञान है,इन तीनों से भिन्न मूलाविद्या नामक कोई वस्तु नहीं है,अविद्या अध्यासरूप है और वह अंतःकरण का धर्म है,अतएव जाग्रत में और स्वपन में दिखती है और सुषुप्ति मूर्छा आदि में नहीं दिखती।

ऐसे अध्यास का कारण खोजने की जरूरत नहीं है,कारण के विचार के लिए काल चाहिए और काल का विचार करने से पहले अध्यास चाहिए। जो पुत्र है वह अपने माता-पिता के विवाह में नहीं जा सकता,ऐसे ही अध्यास के कार्यरूप काल अध्यास का कारण नहीं हो सकता। और श्री शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मविद्या से संपूर्ण अविद्या जाती है,अतएव ज्ञान होने के बाद शेष लेशाविद्या रहती

है ऐसा मानने की जरूरत नहीं है।ज्ञान होने के बाद ज्ञानी अशरीरी होता है,अतः ज्ञानकाल में मोक्ष है,शरीर जाने के बाद मोक्ष होगा ऐसी बात सच्ची नहीं है।कुछ लोग ऐसा माने कि शरीर अविद्या का कार्य होने से अविद्या के जानेपर ज्ञानी का शरीर शांत हो जाना चाहिए। लेकिन यह बात सच्ची नहीं है।ज्ञानी को शरीर शांत हो तभीतक राह देखने की जरूरत नहीं है। ज्ञानी का शरीर के प्रति संबंध बदल जाता है और वह अशरीरी होता है।यह बात निम्नलिखित दो श्लोक में श्रीमद् भागवत में भगवान श्री कृष्ण ने उद्धवजी को समझाई है कि :-

देहं व नश्वरमवस्थितं वा।

सिद्धो न पश्यति यतोऽष्यगमत्स्वरूपस्।

दैवादपेतमुत दैव वशातपेतं

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ११-१३-३६

अर्थः- मदिरा से उन्मत पुरुष को जैसे अपने शरीर पर का वस्त्र दैववश गिर जाय अथवा रहे उसका भान नहीं रहता,वैसे ही सिद्ध पुरुष का यह नाशवान शरीर बैठा हो तो नहीं मानता कि मैं बैठा और शरीर उठे तभी मानता नहीं है कि मैं उठा,क्योंकि उसको अपने वास्तविक स्वरुप का ज्ञान हुआ है।

देहोऽपि दैव पशगः खलु कम यावत्।

स्वारम्मकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।

तं स्वप्नप्रपंचमधि रूढ समाधियोगः

स्वप्नं पुनर्नभजते प्रतिबुद्ध वस्तु :॥

अर्थः- जबतक देहारंभ प्रारब्धकर्म शेष रहते हैं तभीतक यह दैवाधीन शरीर प्राणादि सहित जीवित रहता है लेकिन जिसको ज्ञान हुआ है और जिसको तत्व का साक्षात्कार हुआ है वैसा पुरुष प्रपंच सहित इस शरीर में (स्वप्न के शरीर की भाँति) आसक्त नहीं होता।

उसका अर्थ यह है कि ज्ञानी अशरीरी होता है और उससे जाग्रत के शरीर को और जाग्रत के प्रपंच को स्वप्न की नाई देखता है। ज्ञान ऐसा कोई रोग नहीं है कि ज्ञान होने के बाद तुरंत शरीर नष्ट हो जाना चाहिए।

पदार्थ ज्ञान होने के बाद महावाक्य का बोध होता है उसके बाद मन सहज निर्विकल्प हो जाता है,उसे निर्विकल्प समाधी करके लेशाविद्या विक्षेप दूर करने की जरूरत नहीं रहती।

मूलाविद्या का कार्य जीव या जगत नहीं है।वह कोई अविद्या का परिणाम नहीं है।ऐसा हो तो प्रथम अविद्या रहेगी और उसके बाद एक क्षण के बाद जगत दिखना चाहिए।सीपी में रजत दिखता है वहां भी अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न नहीं होता,सीपी ही रजत के रूप में दिखती है।रजत थोडा समय भी वहां है ऐसा कोई मानता नहीं है।स्वप्न के मनुष्य थोड़े समय के लिए स्वप्न में हैं यह बात सच्ची नहीं है और जाग्रत के जीव-जगत थोड़ी देर के लिए ब्रह्म में हैं ऐसी बात सच्ची नहीं है,मुंबई की लोकल रेलवे ट्रेन में यात्रा करनेवाला मनुष्य अन्य विचारों में खो जाय तो अपने स्टेशन पर नहीं उतर सकता।यदि जाग्रत अवस्था का जगत सच्चा होता तो वह निश्चित ही अपने स्टेशन पर ही उतरे लेकिन वैसा नहीं बनता। संपूर्ण संघात स्वप्न के जैसा है।अतः अविद्या के तीन भाग करने जैसा नहीं

है।मूलाविद्या,तूलाविद्या, और लेशाविद्या की प्रक्रिया श्री शंकराचार्य के विवर्तवाद से विरुद्ध है। यदि जाग्रत को छोड़कर समाधी करना यही मोक्ष हो तो मुक्त पुरुष का उपदेश किसीको मिलेगा नहीं।

वास्तवमें अनात्मा का अदर्शन ही ज्ञानी की समाधी है।

श्री गौड़पादाचार्य का खास सिद्धांत ऐसा है कि उपनिषद में जो तत्व समझाया हुआ है वह आँख से देखने की वस्तु नहीं है,और मन से कल्पना करने की भी वस्तु नहीं है लेकिन अनुभव करने की वस्तु है।उसके लिए प्रथम इतना ठीक से समझ लेने की जरूरत है कि किसी वस्तु का जन्म नहीं होता है।जैसा स्वप्न में है वैसा जाग्रत में है।अतः सिर्फ जगत का विचार करने से सच्चा तत्व समझ में नहीं आयेगा।जीव और जगत का संबंध कैसा है ? आज का सापेक्षवाद का सायन्स भी कहता है कि ऐसा संबंध जैसा स्वप्न में है वैसा ही जाग्रत में है,यानी देश और काल का आधार दर्शन पर है।काकभुशुण्डिजी को श्री रामजी के शरीर में दो पल में अनेक युगों का अनुभव हुआ था,मार्कण्डेय मुनि को भगवान के शरीर में जगत दिखा था और बाहर निकला तो सिर्फ जल दिखा था,अर्जुन ने भगवान के शरीर में विश्वरूप के दर्शन हुए थे। माता यशोदाजी को श्री कृष्ण के मुखमें ब्रह्मांड दिखा था।उसका अर्थ यह है कि वहां दर्शन के अनुसार काल में से जगह (space) बन जाती है।जैसे स्वप्न में बनता है वैसा जाग्रत में बनता है उसको time- space curvature अथवा four dimensional continum कहते हैं।

प्रमाता प्रमेय को असर किये बिना प्रमेय को नहीं देख सकता अतः जो दिखता है वह देखनेवाले की अवस्था है और अवस्था में परिणाम दिखता है लेकिन वह वास्तवमें अवस्था के अंदर का खेल है और वहां देशकाल सापेक्ष होने से कुछ उत्पन्न नहीं होता है।ऐसा अजातवाद समझने से पहले विवर्तवाद समझने की जरूरत है।विवर्तवाद की व्याख्या निम्नलिखित हो सकती है:-

वस्तुनः तत्सम सत्ताको अन्यथाभाव परिणामः तदसम सत्ताको विवर्त: ।

वस्तु के जैसी समसत्ता में अन्यथाभाव हो उसे परिणाम कहते हैं, जैसे कि दूध में दही होता है वहां दूध और दही दोनों व्यावहारिक सत्ता में हैं,लेकिन जहां एक ही वस्तु का अन्यथा भाव हो और विषमसत्ता लगती है वहां विवर्तवाद है।जैसे रज्जु में सर्प दिखे वहां रज्जु का ही सर्प के रूप में अन्यथाभाव है।वहां रज्जु की व्यावहारिक सत्ता है और सर्प की प्रातिभासिक सत्ता है।वैसे ही ब्रह्म में जाग्रत का जगत दिखता है वहां ब्रह्म ही जीव-जगत रूप से दिखता है,फिर भी ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता में है और जीव-जगत व्यवहारिक सत्ता अथवा प्रातिभासिक सत्ता में है।यह एक प्रकार की माया है अतएव वेदांत में माया से जन्म माना हुआ है,तत्व से किसीका जन्म माना हुआ नहीं है।

कोई पूछता है कि स्टेशन कितना दूर है ? उसका उत्तर यह है कि पैदल जायेंगे तो बीस मिनट लगेगी और गाडी से जायेंगे तो पांच मिनट लगेगी।अतः जैसा प्रमाण हो उसके अनुसार जगह बनती है।भगवान मनुष्य से कितने दूर है ? मनुष्य उन तक पहुंचने के लिए जाय तो बहुत समय लगेगा और भगवान अपनी शक्ति से मनुष्य के पास आयें तो वे वहीं है।अतः पूरा आधार प्रमाणपर है और प्रमाण के देशकाल प्रमाण के अनुसार बदलते हैं।यह प्रमाण माया है और माया ब्रह्म में नित्य निवृत्त है,अतः तुरीय दशा नित्य सिद्ध रहती है।

ऐसी ऊंची बातें पाठशालाओं में और कॉलेजों में सिखाने के लिए नए प्रकार के शिक्षक चाहिए और नए प्रकार के विद्यार्थी चाहिए।जिन विद्यार्थियों को और शिक्षकों को संसार के सुख अच्छे लगते हैं वह ब्रह्मविद्या नहीं समझ सकेगा।अतः यमराज ने नचिकेता के वैराग्य की कसोटी करके ब्रह्मविद्या दी थी।ब्रह्माजी ने इंद्र को ज्ञान दिया तभी भी उसके वैराग्य की परीक्षा की थी। जहां संपूर्ण जाग्रत अवस्था को एकसाथ समझाकर मिथ्या बनानी पड़ती है वहां वैराग्य के बिना यह काम नहीं बन सकता।किसीको

संन्यास की दीक्षा देना हो तो तभी भुर्लोक,भुवर्लोक और स्वर्ग लोक इन तीनों को मिथ्या मानकर इन तीनों के विचार का त्याग करने की विधि बताई जाती है।

आज की कॉलेजों की शिक्षा में शिक्षक और विषय हरेक घण्टे में बदलते हैं।वैसी परिस्थितियों में ब्रह्मविद्या का अभ्यास नहीं करा सकते।और ब्रह्मविद्या के लिए नदी किनारे किसी एकांत स्थानपर उंचे विचार हो सकते हैं। शहरों के दौड़धुप वाले जीवन में वह नहीं दी जा सकती।ब्रह्मविद्या प्राप्त करने से पहले भी कुछ पढ़ा हुआ भूलना पड़ता है।जैसे कुछ नया सीखने की जरूरत है वैसे सीखे हुये गलत को भूलने की जरूरत है।तदुपरांत हरेक शिक्षक के पास विद्यार्थी कम होने चाहिए कि जिससे वह हरेक पर ध्यान दे सके।और ब्रह्मविद्या के लिए मनुष्य को संपूर्ण जीवन का जीवनक्रम(योजना) देना चाहिए।सिर्फ पांच वर्ष की या दस साल की योजना से जीवन बराबर समझ में नहीं आयेगा। संपूर्ण जीवन की योजना साधू ही दे सकते हैं।वे ही सच्चे गुरु हो सकते हैं।इसलिए पहले यूरोप में और हिन्द में शिक्षा का विभाग धर्मगुरुओं के हाथ में था। वे कम से कम स्वतंत्र तत्व से जीवन की सभी स्पष्टता दे सकते थे।स्वप्न में उस समय सभी जाग्रत जैसा लगता है।लेकिन वास्तवमें वहां स्वतंत्र तत्व एक ही है।जाग्रत भी वैसा ही है,अतएव उपनिषद प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो सकता है।यह बात जिसको अधिक विस्तार से समझनी हो उनको हमारी पुस्तक 'एकके ज्ञान से सर्व का ज्ञान' पढनी चाहिए।

प्रकरण -७

--------परिशिष्ट--------

मनुष्य को अपने साथ क्या दिखता है? उसके लिए पांच मत (ख्याति) विचारसागर के चतुर्थ तरंग में दिये हुए हैं।यह मत भी सिर्फ जाग्रत अवस्था के अनुभव के अनुसार दिया हुआ है।

स्वप्न में सामने क्या दिखता है ?लेकिन स्वप्न के समय वह स्वप्न नहीं है,इसलिए स्वप्न किसीको दिखता नहीं है,जाग्रत की तुलना में वह स्वप्न कहा जाता है क्योंकि जाग्रत अधिक समय चलता है ऐसा माना जाता है,फिर भी जाग्रत भी मनोरथ के समय और सुषुप्ति के समय तुरंत चला जाता है।अतः जाग्रत भी जाग्रत नहीं है। भगवान श्री कृष्ण जाग्रत को स्वप्न कहते हैं।(भागवत ११-१३-३०) अतः मनुष्य को क्या दिखता है ? महाराष्ट्रियों को और गुजरातियों को मुंबई प्रांत एक जैसा नहीं दिखता,तो क्या दिखता है ?   माया ! लेकिन माया यानी क्या ? भागवत में कहा है कि जो नहीं हो फिर भी दिखे उसका नाम माया ! अतः जीव और जगत दोनों ब्रह्म के विवर्त हैं,परिणाम नहीं है,अतः वास्तव में ब्रह्म ही दिखता है।   ऐसी कठिन बातें समझने के लिए विवर्तवाद को समझाने वाले गुरु की आवश्यकता है।ऐसे गुरु साक्षात् परब्रह्मरूप हैं। और ऐसी बातों के जिज्ञासु भी ब्रह्मरूप है।ऐसा मिलन आषाढ़ी पूर्णिमा को होता है।उस दिन परब्रह्म को पृथ्वीपर आना पड़ता है,यानी प्रकट होना पड़ता है।उस समय एक दीपक के सहयोग से दूसरें दीपक प्रगटते हैं।ऐसा ज्ञान लेने के लिए पुराना सीखा हुआ भूलना पड़ता है।नए ज्ञान को कोई प्रज्ञा पारमिता कहते हैं,कोई ब्रह्म कहते हैं,कोई भगवान कहते हैं।वहां ज्ञान ही आनंदरूप है और आनंद ज्ञानरूप है।

यदि बाहर की चीजों से सुख मिलता तो चीजें बढ़नेपर सुख मिलना चाहिए और चीजें कम हो तभी सुख कम होना चाहिए और सुषुप्ति में चीजें नहीं हो तभी दुःख होना चाहिए। फिर भी सुषुप्ति का अनुभव ऐसा है कि वहां कोई चीजें नहीं है,संबंध नहीं है,फिर भी सुख है,अतः सुख आत्मा का स्वभाव है।नींद में से जगने के बाद अधिक शांति और अधिक शक्ति का अनुभव क्यों होता है ? वह आत्मा में से आती है,इसलिए माण्डूक्य उपनिषद में सुषुप्ति के आत्मा को सर्वेश्वर कहा हुआ है।

ज्ञानी के लिए जाग्रत भी सुषुप्ति है,अर्थात् निष्प्रपंच दशा आत्मा का स्वभाव है,ऐसा ज्ञान प्रकट करना चाहिए और चालू रखना चाहिए।

॥ ॐ॥